युगवाणी मासिक

वर्ष-21 अंक-8 जून, 2021

कार्यालय: युगवाणी प्रेस
14 बी, क्रॉस रोड, देहरादून-248001
फोन-फैक्स 0135-2655860
E-mail: yugwani@gmail.com
Web: www.yugwani.press

आर.एन.आई. रजि. न. UTTHIN/ 2000 / 4886
डाक पंजीयन सं. UA/DO/DDN/599/2020-2022

एक लम्बी यात्रा का रुक जाना

सुन्दरलाल बहुगुणा का जीवन एक लम्बी यात्रा है, कश्मीर से कोहिमा की तरह। उनका जाना एक ऐसे युग का अन्त है जो औपनिवेशिक तथा रियासती शासकों से लड़ते परतंत्र भारत में शुरू होता है और जिसका अन्त कोरोना के निर्मम दौर और भारतीय राज्य व्यवस्था के निर्दयी और निर्लज्ज होने के मध्य हुआ। जब वे धरा में आये तो टिहरी रियासत में दमन और हत्याकांड हो रहे थे और शेष भारत में भी। जब वे गये तो देश को बेच रहे सत्ताधारी अपने नागरिकों को नहीं बचा पा रहे हैं।

सुन्दरलाल बहुगुणा के व्यक्तित्व और कृतित्व का विस्तार से आकलन करता **शेखर पाठक** का यह आलेख युगवाणी के पाठकों के लिए प्रस्तुत है। (पृष्ठ 04-12) ●

सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक तथा मालिक संजय कोठियाल द्वारा युगवाणी प्रेस, 14-बी, क्रॉस रोड, देहरादून से प्रकाशित तथा सरस्वती प्रेस, 6-फालतू लाइन, देहरादून से मुद्रित। समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र देहरादून होगा।

सम्पादकीय

मूक और अबोध को वाणी देने वाले

सुन्दर लाल बहुगुणा (1927-2021) स्वतन्त्र भारत के दौर में विकसित होती आधुनिक चेतना के ध्वजवाहकों में एक अग्रणी व्यक्ति रहे। उनके निधन से शोक और क्षय का बोध हो रहा है। उनकी प्रचलित तस्वीर से शायद ही कोई जन अपरिचित होगा। विनम्र और सुदर्शन बहुगुणा की छवि पर्यावरण चेतना के प्रतीक चिह्न की तरह हमेशा हमारे बीच रहेगी। विशेष तौर पर सत्तर और अस्सी के दशकों में हमने उन्हें पर्यावरण की पारम्परिक और वैज्ञानिक समझ का नेतृत्व करते देखा है। उनकी सम्प्रेषण की शैली इतनी आडम्बरहीन थी कि वो स्थानिक और वैश्विक एक साथ अनुभव होती थी। इस तरह वे गाँधीवादी पद्धति का अनुसरण करने वाले अनूठे उदाहरण थे।

श्रोताओं और दर्शकों को देखकर उनकी भाषा और भंगिमा में बदलाव नहीं होता था। इस अर्थ में वे भारतीय आत्मा का प्रतिनिधित्व करते थे। एक लम्बे समय तक विश्व मीडिया को उन्होंने सहज रूप से आकर्षित किया। वे भारतीय मेधा की प्रभावशाली अभिव्यक्ति थे। सर्वोदयी कार्यकर्ता के साथ वे मेधावी पत्रकार थे। उनका लेखन उद्देश्यपरक होता था। इसीलिए उत्तराखण्ड के लघु अखबारों से लेकर देश के हिन्दी-अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में वे लगातार पर्यावरण के सम्बन्ध में लिखा करते थे। वे लोग भाग्यशाली हैं जिन्होंने एक वक्ता के रूप में उनके सम्बोधनों को सुना है। उनके सम्बोधन बहुत आत्मीय, ज्ञानवर्धक और संवेदना जगाने वाले होते थे। पूरे देश में इनकी अनुगूंजे पर्यावरण बोध को जागृत करने वाली थी।

उनकी भाषा में पत्रकारिता और साहित्य का सरस मिश्रण आसानी से लक्षित किया जा सकता है। युगवाणी द्वारा, आचार्य गोपेश्वर कोठियाल शताब्दी समारोह में उनके भाषण को याद किया जा सकता है। वे कहते हैं कि लेखक का काम है मूक को वाणी देना। जो बोल नहीं सकता उसके लिए खड़े होना। उनकी वाणी इतनी प्रभावशाली थी कि विद्वान लेखकों, पत्रकारों और नेताओं को इससे नीति-निर्देश मिल गया।

सुन्दर लाल बहुगुणा जी की स्मृति को सादर नमस्कार!

इतिहास के दोस्त लाल बहादुर वर्मा

प्रतिभावान इतिहासकार, प्रोफेसर, चिन्तक, सम्पादक और लेखक लाल बहादुर वर्मा (1938-2021) का 18 मई को देहरादून के एक अस्पताल में कोरोना के कारण निधन हो गया। कुछ वर्षों पूर्व वे इलाहबाद से आकर देहरादून में बस गए थे। वह मानते थे कि ' समस्त समाज के अनुभव संसार के सार संकलन से उपजा विवेक ही इतिहास है।' देहरादून में उनका निवास एक सांस्कृतिक केन्द्र की तरह था जहाँ वह साहित्यकारों, राजनैतिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं, पत्रकारों और उत्सुक बुद्धिजीवियों का दिल खोलकर स्वागत करते थे। वे उत्तराखण्ड को आधार बना कर एक साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका की योजना बना रहे थे। एक आन्दोलन की तरह वह दोस्ताना सम्बन्धों की हिमायत करते थे। पठन-पाठन की संस्कृति को वह एक राजनैतिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में देखते थे। इतिहास सम्बन्धी उनका लेखन हमारे समकाल से गत्यात्मक सम्बन्ध बनाता है। इतिहास और साहित्य में उनका कुल कार्य विपुल है और समाज को रोशनी देने वाला है। अलविदा दोस्त!

यूँ ही हमला नहीं किया रामदेव ने ऐलोपैथी पर

जगमोहन रौतेला

योग उद्योगपति रामदेव द्वारा कोविड-19 के संक्रमण के इलाज को लेकर आधुनिक चिकित्सा पद्धति ऐलोपैथी पर किया गया हमला यूँ ही नहीं किया गया है। इसके पीछे सोच-विचार कर की गई व्यापारिक रणनीति है। कोविड संक्रमण की इस तथाकथित दूसरी लहर के दौर में जब संक्रमित मरीज अस्पतालों में स्वास्थ्य सुविधाएँ न होने के कारण तिल-तिल कर मर रहे हैं। कहीं किसी मरीज को दवा नहीं मिली तो कहीं समय से ऑक्सीजन व वैंटिलेटर न मिलने से लोगों ने अपने परिजनों को तड़प कर बेमौत मरते हुए देखा। यह भयावह सिलसिला एक-दो दिन या एक-दो हफ्ते नहीं चला, बल्कि पूरे दो महीने से बदस्तूर जारी है।

जहाँ सरकारी अस्पतालों व मेडिकल कॉलेजों में तक स्वास्थ्य ढाँचा एक तरह से हाँफने लगा, वहीं निजी अस्पतालों व मेडिकल कॉलेजों में इलाज के नाम पर खुलेआम लूट होने लगी है। बेबस व लाचार आदमी कुछ कहने की स्थिति में नहीं है। वह घर बेचकर भी किसी तरह से अपने परिजनों को बचाना चाहता है। अप्रैल से मई के पहले हफ्ते तक स्थितियाँ इतनी भयावह हो चली कि देश के अनेक बड़े शहरों में शमशान घाट में अपने परिजनों का अंतिम संस्कार करने तक के लिए लोगों को आठ-दस घंटे तक इंतजार करना पड़ा। इस तरह के दृश्यों से केन्द्र की नरेन्द्र मोदी सरकार के ऊपर बतइंतजामी के लिए सवाल उठने लगे। भाजपा और उसके आईटी सैल को यह समझ नहीं आ रहा था कि प्रधानमन्त्री मोदी की ब्रांडिंग को कैसे बचाया जाय?

इसी बीच 8-9 मई 2021 को योग उद्योगपति बाबा रामदेव का एक वीडियो सोशल मीडिया में तेजी के साथ वायरल होता है। जिसमें वह ऑक्सीजन की कमी से अस्पतालों में बेमौत मर रहे लोगों पर एक तरह से तंज कसते हुए कहते हैं कि भगवान ने मुफ्त में ऑक्सीजन दे रखी है और पूरा ब्रह्माण्ड ऑक्सीजन से भर रखा है। ले तो ले बावड़े! यह सब वह वातावरण की हवा से ऑक्सीजन लेने के तौर पर कहते हैं। नाक पर हाथ लगाकर वे कहते हैं, ये दो-दो सिलैंडर तेरे पास हैं और पागलों की तरह बाहर ऑक्सीजन (सिलैंडर) ढूँढ रहे हैं। और फिर तंज कसते हुए सवालिया लहजे में कहते हैं 'ऑक्सीजन कम पड़ रही है?' वे यहीं पर नहीं रुकते हैं। ऑक्सीजन की कमी से अस्पतालों में तड़प रहे लोगों का एक तरह से मजाक बनाते हुए कहते हैं 'हौसला तो रख! मरा जा रहा है। हॉस्पिटल कम पड़ गए, ऑक्सीजन के सिलैंडर कम पड़ रहे हैं, दवा नहीं मिल रही है, डॉक्टर कम पड़ गए हैं। चारों ओर नकारात्मकता का वातावरण बना रखा है।

बस! यही वह वाक्य था, जिससे बड़े ही सधे अंदाज में पूरी स्वास्थ्य व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने और सरकार की नाकामी के बाद भी उसका बचाव किया जा रहा था। साथ ही स्वास्थ्य सुविधाओं की अव्यवस्था के लिए बीमार लोगों को ही जिम्मेदार बताया जा रहा था और ऑक्सीजन की कमी से गम्भीर हालत में पहुँचे लोगों को भी कहा जा रहा था कि जोर-जोर से साँस लेकर वातावरण से जितनी ऑक्सीजन चाहिए ले ले। अस्पताल क्यों जा रहे हो? रामदेव ने अपने इस बयान में संवेदनशीलता की सारी हदें पार कर अपनी मानसिक क्रूरता का ही परिचय दिया।

जब जनता ही नहीं, न्यायालय भी स्वास्थ्य अव्यवस्था के लिए मोदी सरकार को लगातार कठघरे में खड़ा कर रही थी तो गत 21 मई को रामदेव ने इन मुद्दों से ध्यान बँटाने के लिए फिर एक बयान दिया। इस बार उनका निशाना आधुनिक चिकित्सा प्रणाली और डॉक्टर थे। यह बयान भी सोशल मीडिया में वीडियो के माध्यम से ही सामने आया। इस वीडियो में रामदेव अपने मोबाइल को देखते हुए कहते हैं कि ऐलोपैथी एक स्टूपिड और दिवालिया साइंस है। पहले हाइड्राक्सीक्लोरोक्वीन फेल हुई, फिर रेमडेसिविर, एंटीबायोटिक, स्टरॉयड फेल हो गए और अब प्लाज्मा थेरेपी पर भी बैन लग गया है। एक-एक कर के सब दवाइयाँ फेल हो रही हैं। ये क्या तमाशा हो रहा है?

बाबा रामदेव के इस बयान से इंडियन मेडिकल ऐसोसिएशन (आईएमए) भड़क गया। उसने केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री डॉ. हर्षवर्धन को पत्र लिखकर रामदेव के खिलाफ कानूनी कार्यवाही करने की माँग की। आईएमए की नाराजगी को देखते हुए 23 मई को हर्षवर्धन ने रामदेव के बयान पर खेद जताते हुए उन्हें अपने बयान को वापस लेने को कहा और कहा कि यह डॉक्टरों का निरादर करने वाला बयान है। रामदेव ने भी उसी दिन हर्षवर्धन के पत्र के बाद खेद जताने वाला पत्र लिख दिया। इसके बाद लगा कि विवाद खत्म हो गया है। पर ऐसा नहीं हुआ। अगले दिन 24 मई को रामदेव ने ऐलोपैथी को ही कठघरे में खड़ा करते हुए आईएमए पर 25 सवाल दाग दिए।

इसके बाद आईएमए ने बाबा रामदेव से 15 दिनों के भीतर लिखित में माफी माँगने और ऐसा न करने पर 1,000 करोड़ के मानहानि का नोटिस भेजने की चेतावनी दी। पर रामदेव पर इस तरह की चेतावनियों का कोई असर नहीं हुआ। उल्टे उनके सहयोगी बालकृष्ण ने इसे देश को क्रिश्चिएनिटी में तब्दील करने का षडयंत्र करार दे दिया और इस पूरे विवाद को धार्मिक रंग देने की हरकत की। बालकृष्ण के इस बयान से आईएमए भी बाबा रामदेव पर हमलावर हो गया।

आईएमए ने 26 मई को प्रधानमन्त्री मोदी को पत्र लिखकर रामदेव के खिलाफ देशद्रोह का मुकदमा दायर करने की माँग की। इस विवाद के बीच ही 26 मई को रामदेव का एक नया वीडियो सामने आया, जिसमें वह कह रहे हैं कि किसी के बाप में इतना दम नहीं कि वह रामदेव को गिरफ्तार कर सके। इससे इतना तो पक्का है कि यह विवाद अभी थमने वाला नहीं है। पर जिस मकसद से यह विवाद खड़ा किया गया, वह पूरा हो गया है। ●

एक लम्बी यात्रा का रुक जाना

❑ शेखर पाठक

सुन्दरलाल बहुगुणा (9 जनवरी 1927, ग्राम मरोड़ा, टिहरी-21 मई 2021, ऋषिकेश) का जीवन एक लम्बी यात्रा है, कश्मीर से कोहिमा की तरह। उनका जाना एक ऐसे युग का अन्त है जो औपनिवेशिक तथा रियासती शासकों से लड़ते परतंत्र भारत में शुरू होता है और जिसका अन्त कोरोना के निर्मम दौर और भारतीय राज्य व्यवस्था के निर्दयी और निर्लज्ज होने के मध्य हुआ। जब वे धरा में आये तो टिहरी रियासत में दमन और हत्याकांड हो रहे थे और शेष भारत में भी। जब वे गये तो देश को बेच रहे सत्ताधारी अपने नागरिकों को नहीं बचा पा रहे हैं। वोट के लिये इस्तेमाल होती रही जीवनदायिनी गंगा कई स्थानों पर लाशों से पटी है और यमुना तथा नर्मदा नदियाँ भी। उनके रेवाड़ में तरबूज, खरबूज और खीरा नहीं मृत शरीर बिछे हैं। सत्ता विश्व इतिहास के सबसे बड़े झूठ लगातार बोल रही है।

यह युग टिहरी रियासत में चला और उसके बाहर भी। यह एक बालक के विकसित होने, सुमन का साथी बनने तथा आजादी का आकांक्षी बनने की कहानी है। प्रजामंडली और राजनैतिक कार्यकर्ता बनने की। फिर यह एक दम्पति के बनने और विकसित होने की कहानी है। वे समाज को कैसे बनाते हैं और समाज उन्हें कैसा बनाता है यह पक्ष भी इस कहानी से जुड़ा है। ऐतिहासिक शक्तियाँ किसी या किन्हीं लोगों से क्या-क्या काम कराती हैं, यह देखना भी कम रोचक नहीं।

हम सभी के लिये मानसिंह रावत, वीरेन्द्रदत्त सकलानी, डी.डी. पन्त, सुन्दरलाल बहुगुणा, विमला बहुगुणा, चंडी प्रसाद भट्ट, राधा बहन, योगानन्द (सोहनलाल भूभिक्षुक), खड्ग सिंह वल्दिया, आर.एस. टोलिया, शमशेर बिष्ट या बिहारीलाल आदि की उपस्थिति शायद अपने को सामाजिक रूप से अनाथ न होने देने के मनोविज्ञान से जुड़ी है और हिमालय की पुकार को देश दुनिया के सामने रखने वालों के सलामत बने रहने की कठिन आकांक्षा से भी।

मरोड़ा और मालदेवल की नई पीढ़ी

टिहरी शहर से 5-6 किमी. दूर मरोड़ा गाँव में सुन्दरलाल का जन्म माँ पूर्णा देवी और पिता अम्बादत्त के घर हुआ। पिता टिहरी रियासत के वन कर्मचारी थे, जैसे करीब के गाँव मालदेवल की विमला (4 अप्रैल 1932) के पिता नारायण दत्त नौटियाल भी। दोनों लगातार दौरों में रहते थे। मालदेवल में भी माँ रत्नकान्ता परिवार को संभालती थी। इन घरों में राज विद्रोही पैदा हो रहे थे। सुन्दरलाल तो अकेले विद्रोही थे पर नारायण दत्त नौटियाल की चार सन्तानें विद्रोही बनी। दोनों बेटियों-कमला और विमला ने सरला बहिन के लक्ष्मी आश्रम विद्यालय में सामाजिक कर्मी बनना सीखा। तीसरी बहिन उर्मिला भी वहीं दीक्षित हुईं। दोनों भाई बुद्धिसागर और विद्यासागर पहले प्रजामण्डली और फिर क्रमश: काँग्रेसी और साम्यवादी बने। फिर आजन्म लड़ाकू बने रहे। विद्यासागर सुप्रसिद्ध साहित्यकार बने। विधायक भी। साम्यवादी पार्टी ने उन्हें कुछ समय के लिये टिहरी बाँध का विरोध करने के कारण पार्टी से निकाला था। बुद्धिसागर संग्रामी और हिमाचली बन गये। उन्होंने एक विधवा से विवाह किया था।

फोटो: डैन जैनसन

मरोड़ा और मालीदेवल भागीरथी किनारे के गाँव थे। पीने का पानी भागीरथी से लाया जाता था। गंगा नाम इसीलिये यहाँ बहुत प्रचलन में था। सुन्दरलाल को भी पहला नाम गंगाराम मिला था, अपनी एक बुआ की तरह ही। भागीरथी इस समाज के चेतन-अवचेतन में उसी तरह बसी थी, जैसे हिमालय की पहली बसासतों से गंगासागर तक या कोई भी और नदी अपने किनारों के समाजों में।
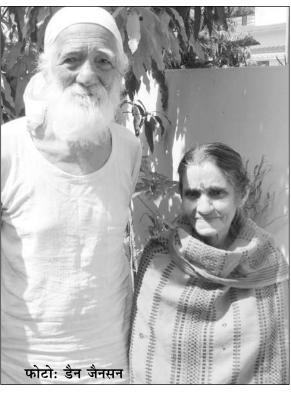
सुन्दरलाल की प्रारम्भिक शिक्षा इन्टर तक प्रताप इन्टर कॉलेज, टिहरी में हुई। वहीं उन्होंने पहली बार श्रीदेव सुमन को देखा था। दोनों की उम्र में 11 साल का फर्क था और चम्बा की धार के आरपार दोनों के गाँव थे। जब आगे की पढ़ाई का विचार आया तो भारत छोड़ो आन्दोलन शुरू हो गया था। वह टिहरी और मसूरी में सुमन के साथ काम करने लगे थे। 1930 के रवाँई हत्याकांड के बाद रियासत में चुप्पी थी। राजा यूरोप में घूम रहा था और कर्मचारी दमन में जुटे थे। 1939 में देहरादून में गठित प्रजामण्डल को 'राजा की छत्रछाया स्वीकार करने' के बाद भी रियासत के भीतर काम नहीं करने दिया जा रहा था। इसी बीच 1942 में एक दिन सुन्दरलाल की माँ पानी लाने भागीरथी तक उतरी तो बरसात से आक्रामक बनी नदी उन्हें बहा ले गई। वे 15 साल के थे। इसी बीच सुमन की गिरफ्तारी हो चुकी थी और जेल में यातनाओं का दौर चल रहा था। 25 जुलाई 1944 को 84 दिन की भूख हड़ताल के

बाद सुमन ने प्राण त्याग दिये।

सुमन के जेल जीवन की कुछ खबरें सुन्दरलाल बाहर अखबारों में भेज देते थे। रियासत की पुलिस तथा खुफिया विभाग को बालक पर शक हुआ और उसे गिरफ्तार कर नरेन्द्रनगर जेल भेज दिया गया। एक फोड़े के कारण अस्पताल ले जाने के बहाने वह जेल से बाहर आ सके और फिर जेल ले जाये जाने से पहले लाहौर भाग गये। 1945 का साल शुरू हो चुका था। सुन्दरलाल ने सनातन धर्म कालेज, लाहौर में बी.ए. में प्रवेश ले लिया था। बड़े भाई वहीं पढ़ रहे थे। विश्वयुद्ध समाप्त हो रहा था। स्वतंत्रता सेनानी जेल से बाहर आ रहे थे। टिहरी में सुमन की शहादत के बाद की चुप्पी थी पर शीघ्र ही वह टूटने वाली थी। सुमन की शहादत ने टिहरी में प्रजामण्डल को जीवन दिया। लाहौर में प्रवासी गढ़वालियों ने प्रजामण्डल की शाखा खोली थी, जिसमें सुन्दरलाल जाने लगे थे। एक दिन रियासत की पुलिस की सूचना के आधार पर स्थानीय पुलिस उनकी खोज में आई।

सुन्दरलाल को भूमिगत हो सरदार मानसिंह का रूप लेना पड़ा। कुछ समय बाद भागकर वह लायलपुर में रहे। वहाँ एक साम्यवादी सरदार जी ने उन्हें प्रिन्स क्रोपोटकिन की किताब पढ़ाई। दूसरे सरदार जी ने अपने बच्चे को पढ़ाने का काम दे दिया। गुरूमुखी सीखी। गुरुग्रन्थ साहिब और गाँधी की रचनायें पढ़ी। लाहौर लौट कर फिर पढ़ाई शुरू की। इस समय तक विभाजन की दुखद कहानी शुरू हो चुकी थी। इम्तहान देकर सुन्दरलाल जून 1947 में टिहरी आ गये। प्रथम श्रेणी में बी.ए. किया और टिहरी में प्रजामण्डल के कार्यो में जुट गये। 15 अगस्त 1947 का स्वागत उन्होंने टिहरी में किया। 1948 में प्रजामण्डल की ओर से राज्य की विधान सभा का चुनाव लड़े और हार गये। 21 साल के तरुण के जीवन का यह पहला और आखिरी चुनाव था। 1920 में गोविन्द बल्लभ पन्त भी अपने जीवन का पहला चुनाव हारे थे, पर उनको मौके बहुत मिलने वाले थे।

सुन्दरलाल को टिहरी के काँग्रेस जिला सचिव का दायित्व सौंपा गया। 1949 में टिहरी रियासत का भारत में विलय हो गया और प्रजामंडल का काँग्रेस में। इसी साल विमला नौटियाल अध्ययन के लिये सरला बहन के विद्यालय में कौसानी गई। स्थानीय अखबार में इसका विज्ञापन भाई बुद्धिसागर ने देखा था और बहन को वहाँ जाने के लिये प्रोत्साहित किया था। अब तक प्रजामण्डल का विलय काँग्रेस में हो चुका था। 1950 में सुन्दरलाल ने जन सहयोग से पहला काम टिहरी में ठक्कर बापा छात्रावास की स्थापना का किया। यह दलित समुदाय और समाज के वंचित वर्गों के विद्यार्थियों के लिये शिक्षा का एक आधार शिविर सा बना। हरिजन सेवक संघ की ओर से काम हो रहे थे। टिहरी में जनगायक गुणानन्द पथिक तब 'गाँधी जी का प्यारा हरिजन' जैसा गीत गा रहे थे। तभी काँग्रेस, सर्वोदयी और साम्यवादी जन दलितों के मंदिर प्रवेश की सफल लड़ाई भी लड़े। इसी बीच मीरा बहन भिलंगना के गेवली गाँव में 'गोपाल आश्रम' बना कर रहने लगीं। सुन्दरलाल उनसे मिले और ग्रामविकास पर चर्चा की। वन सम्बंधी प्रारम्भिक चेतना जहाँ रियासत के वन आन्दोलनों से बनी थी, वहीं पारिस्थितिकी का पक्ष मीरा बहन के सम्पर्क में आने से विकसित हुआ। अध्ययनशीलता ने भी युवा सुन्दरलाल का जंगलात ज्ञान बढ़ाया।

निर्णायक साल

1956 में नारायण दत्त ने बेटी विमला का विवाह सुन्दरलाल से तय किया। सरला बहन को विमला ने अपनी आकांक्षा बताई कि वह तो गाँधी की राह पकड़ना और दलित बेटियों की शिक्षा हेतु काम करना चाहती हैं। यह भी बताया कि वह राजनीतिक कार्यकर्ता से विवाह नहीं चाहती। कठिन परिस्थिति जान सरला बहन विमला के साथ टिहरी गईं और काँग्रेस कार्यालय में सुन्दरलाल से मिली। सब बातें बता दीं। इस तरह आजाद भारत के पहले दशक में संभावित राजनैतिक कैरियर को छोड़ समाजसेवा के कठिन मार्ग को थामना सुन्दरलाल का बहुत बड़ा निर्णय था। यह उन दोनों के जीवन में एक नई शुरूआत थी और उत्तराखण्ड में सामाजिक कर्म के क्षेत्र में भी। इसी बीच भिलंगना की उपघाटी बालगंगा के किनारे सिल्यारा में जगह खोजी गई और एक छोटी ठौर जन सहयोग से बनने लगी। यह 'नवजीवन आश्रम' इस जोड़े की कर्मस्थली बना। 19 जून 1956 को यहीं ग्रामीणों के बीच विमला और सुन्दरलाल का विवाह हुआ।

अब तक विनोबा का भूदान तथा ग्रामदान का आन्दोलन चल चुका था और विमला देश के अनेक हिस्सों में गई। उत्तराखण्ड के भीतर भी। यदि टिहरी में विमला-सुन्दरलाल ने शुरूआत कर दी थी तो पौड़ी में मानसिंह रावत विदेश अध्ययन की छात्रवृत्ति छोड़कर सक्रिय हो गये थे। उधर राधा बहन ने अल्मोड़ा में समाज संगठन का काम संभाल लिया था। 1956 में भूदान के दौरों के समय जी.एम.ओ. के बुकिंग क्लर्क का काम कर रहे चंडी प्रसाद भट्ट पहले मानसिंह फिर जयप्रकाश नारायण के प्रभाव से सर्वोदय कार्य में आ गये। टेलर मास्टरी छोड़ सोहन लाल सर्वोदयी हो गये थे। बहुत सारे और साथी भी बढ़ और विकसित हो रहे थे।

भूदान यात्राओं ने कार्यकर्ताओं को उत्तराखण्ड की आधारभूत समस्याओं को समझने में मदद दी। अगले दशकों में ये मुद्दे आन्दोलनों का विषय बने। शराब, शिक्षा, स्वास्थ्य, जमीन, जंगल, पानी, महिलाओं और दलितों की स्थिति आदि। देश में अन्यत्र भी वे सभी जा रहे थे। सरला बहन ने विमला को वापस पहाड़ों में बुला लिया। 1960 में तिब्बत से व्यापार बन्द होने के साथ सीमा में तनाव प्रकट हो गया, जिसकी परिणति 1962 का युद्ध था।

इन सालों में सर्वोदय कार्यकताओं ने लगातार यात्रायें की। उत्तराखण्ड के अन्य

क्षेत्रों में भी। यह सीमान्त में दूसरी सैनिक पंक्ति को विकसित करने का प्रयास था। कार्यकर्ताओं की बहुत अच्छी टीम विकसित हो गई थी। जय प्रकाश नारायण ने हिमालय सेवा संघ की स्थापना की तो उससे भी ये सभी जुड़े। इस समूह ने श्रमिक सहकारी समितियों का गठन किया। महिलाओं की दयनीय स्थिति और शिक्षा वंचना से यह समूह चिन्तित था। एक से एक आदर्शवादी इसमें थे।

1957 में विमला-सुन्दरलाल की बेटी मधु का जन्म हुआ और 1961 तथा 64 में राजीव तथा प्रदीप का। तीनों बच्चे आश्रम के स्कूल में पढ़े और उनके लिये किसी भी तरह की अतिरिक्त व्यवस्था नहीं थी। यही सभी सामाजिक कार्यकर्ताओं के परिवारों की स्थिति थी। स्कूल तो घर पर था पर अस्पताल टिहरी में था। बच्चों को किसी भी ग्रामीण बच्चे की तरह तमाम किस्म का श्रम करना पड़ता था। विमला एक संतुलन बनाती रही। क्योंकि उनके स्कूल के सभी बच्चे उनके अपने थे और वह अपने जैविक बच्चों की अलग देखरेख नहीं करती थी।

पहली लड़ाई शराब के खिलाफ

शैलानी के शब्दों में 'शराब के दैत्य' ने पहाड़ों को बरबाद कर दिया था। सभी भूदान कार्यकर्ता बेचौन थे। उन्हें गाँधी के वक्तव्य याद थे और संविधान की धारा 47 भी। 1962 में देहरादून में दर्जी का काम करने वाले सर्वोदयी सोहनलाल भूभिक्षुक ने पहले पोस्टकार्ड अभियान, फिर भट्टियों पर पिकेटिंग और अन्त में लखनऊ विधान सभा की सीढ़ियों पर आमरण अनशन किया। जब विनोबा ने यह कहा कि मरने से नशाबन्दी नहीं होगी तो उन्होंने अनशन वापस ले लिया। पर व्यवस्था की बड़ी झील में पड़े इस कंकर ने लहरें तो पैदा कर ही दीं। सरकार के पास 1962 तथा 1965 के युद्धों को रक्षा कवच की तरह इस्तेमाल करने की मंशा थी। बल्देवसिंह आर्य समिति की जंगलात सम्बंधी सिफारिशों को लागू करने में भी यही बहाना पेश किया गया था।

इसी दौर में भिलंगना क्षेत्र में सरकार ने कुछ और तो नहीं किया पर 1965 में घणसाली में शराब की दुकान खोल दी। कहने को प्रदेश सरकार के पास मद्य निषेध विभाग भी था पर प्रभुत्व और जलवा आबकारी विभाग का होता था। अंग्रेजों के जमाने से चली जंगलों और शराब की नीलामी अपने को गाँधी का उत्तराधिकारी कहने वाली सरकारें हर साल आयोजित करतीं थीं। इस तरह जंगल तथा समाज दोनों की बरबादी होती रही। विकास की पंचवर्षीय योजना को ये दो विनाशकारी सालाना योजनायें लगातार फेल करती रहीं। स्कूल या अस्पताल की तरफ नजर कम जाती थी। ऐसे ही जिन वन पंचायतों की

स्थापना शेष कुमाऊं में 40-50 साल पहले अंग्रेजी काल में हो चुकी थी उनको टिहरी जिले में 1959 की आर्य समिति के सुझावों के बाद भी लागू नहीं किया गया।

घणसाली में अप्रैल 1965 में शराब का ट्रक आना था और स्थानीय समाज को विमला-सुन्दरलाल द्वारा प्रतिकार के लिये तैयार किया जा रहा था। रामलीला तथा नाटकों के माध्यम से बात समाज में जा रही थी। सामान्य जन ही नहीं, इलाके के प्रभावशाली लोग भी समर्थन देने आने लगे। कौसानी से सरला बहन अपनी टोली लेकर आ गईं। सुन्दरलाल ने उपवास शुरू किया। अन्यत्र भी आन्दोलन होने लगा। सर्वोदय के कार्यकर्ताओं ने सर्व समर्थन से टिहरी में चम्बा, लम्बगाँव, तथा चीड़बटिया, चमोली में चन्द्रापुरी, पौड़ी में कोटद्वार तथा सतपुली, पिथौरागढ़ में थल और डीडीहाट तथा अल्मोड़ा में गरुड़ में आन्दोलन चलाया। यह सामाजिक हिस्सेदारी के साथ चला। मुख्यमंत्री सुचेता कृपलानी ने आन्दोलन की बात मानी और 1967 में इन स्थानों पर शराबबंदी हो गई पर इन जिलों में अन्यत्र शराब खुली थी।

1969 में आन्दोलन के दबाव और गाँधी जन्म शताब्दी की शर्म से तीनों सीमान्त जिलों-उत्तरकाशी, चमोली और पिथौरागढ़-में शराबबंदी हुई और पौड़ी में टिंचरी के खिलाफ सफल आन्दोलन चला। 1970 में टिहरी और पौड़ी जिले भी नशाबंदी के अन्तर्गत आ गये। आठ में से पांच जिलों में शराबबंदी का लागू होना बहुत बड़ी जीत थी।

इस आन्दोलन में अलग अलग जगहों पर विमला, सुमन की माँ तारा देवी, मानसिंह रावत, शशिप्रभा रावत, सोहनलाल भूभिक्षुक, भवानी भाई, घनश्याम शैलानी, सुरेन्द्रदत्त भट्ट, श्यामा देवी, चंडी प्रसाद भट्ट, आनन्द सिंह बिष्ट, राधा बहन, सदन मिश्र, योगेश बहुगुणा, दीवान सिंह भाकुनी, शेर सिंह कार्की आदि कितने ही कार्यकर्ता आन्दोलन का संचालन कर रहे थे। सबसे ऊपर सरला बहन और कभी कभी शांतिलाल त्रिवेदी अलग से दिखाई देते थे। काँग्रेस तथा अन्य राजनैतिक पार्टियों के जमीर वाले लोग आन्दोलन को समर्थन दे रहे थे।

अंग्रेजी शराब के कारोबारियों ने उच्च

न्यायालय में रिट दायर कर 14 अप्रैल 1971 को स्टे ले लिया। प्रदेश सरकार सर्वोच्च न्यायालय नहीं गई। फिर आन्दोलन ज्यादा आक्रामकता से चला। सुन्दरलाल ने फिर अनशन शुरू किया। अब चमोली से भी कार्यकर्ता महिलाओं और बच्चों को लेकर टिहरी आये और गिरफ्तार किये गये। बच्चों और महिलाओं सहित आन्दोलनकारियों को सहारनपुर जेल में भेजा गया। इस समय घनश्याम शैलानी और चंडी प्रसाद भट्ट एक जीप में बैठकर पुलिस की आँखों में धूल झोंक कर लोगों के बीच जाते रहे। फिर गिरफ्तार कर लिये गये। दोनों को एक ही हथकड़ी लगाई गई। जन आन्दोलन के आगे सरकार झुकी।

27 दिसम्बर 1971 को सरकार ने फिर राजाज्ञा निकाली कि 1 अप्रैल 1972 से शराबबंदी पूर्ववत लागू कर दी गई है। अगले एक दशक तक सरकार अपने निर्णय पर कायम रही। जब फिर शराब खुली तो 1984 में 'नशा नहीं रोजगार दो आन्दोलन' चला, जिसको चिपको आन्दोलन के कारण विश्वविख्यात हो चुके कार्यकर्ता अपना सहयोग नहीं दे पाये। यह विभाजित चिपको का दृश्य था। तबसे नशा सामाजिक रूप से भी सम्मान पाता गया। नया राज्य तो शराब पर निर्भर राज्य हो गया है। एक बुजुर्ग के शब्दों में इस राज्य की धमनियों में शराब का रक्त बहता है।

चिपको आंदोलन

नशाबंदी आंदोलन ने अनेक कार्यकर्ताओं को उभारा और महिलाओं में एक गहरा आत्मविश्वास भरा। सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी लगा कि महिलाओं की हिस्सेदारी से जनान्दोलन को गरिमा और गहराई साथ साथ मिलती है। जंगलों का मुद्दा दो दशकों से विलम्बित था। आर्य समिति की रपट को आये 10 साल हो चुके थे। छोटी-छोटी समितियों के बाद 1970 के आसपास अनेक ग्राम स्वराज्य मण्डलों की स्थापना हुई। इससे सर्वोदय समूह अधिक सुसंगठित हुआ। कुछ आर्थिक क्रियाकलाप और लकड़ी-लीसे और जड़ीबूटी सहित वनोपजों से जुड़े कुटीर उद्योग शुरू हुये।

1970 की अलकनन्दा बाढ़ ने कार्यकर्ताओं और समाज दोनों को यह समझ दी कि यह बाढ़ सिर्फ भूस्खलन,

भूकम्प या तालाबों के टूटने से ही नहीं हुई है, इसमें जंगलों के विनाश तथा सड़कों को बनाने के हिमालय विरोधी तरीके का भी योगदान है। राहत कार्य में गये कार्यकर्ताओं ने अपनी आँखों से देखा कि जंगलों के कटान और पेड़ों के लुड़कान ने बाढ़ को प्रलयंकारी बनाने में योगदान दिया था। दूसरी तरफ ठेकेदारी प्रथा पूर्ववत जारी थी। अब उन काष्ठ प्रजातियों का आवंटन खेल कम्पनियों को किया जाना शुरू हुआ, जो स्थानीय समाज को खेती के उपकरणों के लिये मिलती थीं। स्टार पेपर मिल्स को तो 1958 से ही कौड़ियों के भाव दशकों के लिये जंगल/पेड़ अलॉट कर दिये गये थे।

चमोली जिले में 1971 से जंगलात आन्दोलन की शुरूआत हुई। अलकनन्दा की बाढ़ से पहला पाठ इसी समाज ने सीखा था। 22 अक्टूबर 1971 को गोपेश्वर में हुआ प्रदर्शन पहली ग्रामीण अभिव्यक्ति थी। 1900 के बाद लगातार चले जंगलात आन्दोलन ('जंगल सत्याग्रह') की याद और चेतना अभी समाज में थी, जिसे आर्य समिति को इस समाज ने बड़ी संख्या और स्वर में बता भी दिया था। प्रदर्शनों, प्रतिवेदनों और प्रतिनिधि मण्डलों का सिलसिला चलता रहा। साथ ही मूल भूमि में ग्रामीणों को संगठित करने का काम लगातार जारी रहा।

1972 में पुरोला, उत्तरकाशी तथा गोपेश्वर में क्रमशः प्रदर्शन हुये। साम्यवादी दल उत्तरकाशी में यह सिलसिला पहले शुरू कर चुका था। 15 दिसम्बर 1972 का गोपेश्वर प्रदर्शन ऐतिहासिक था। 27 मार्च 1973 को सायमण्ड कम्पनी के आदमियों का गोपेश्वर आगमन तथा 'अंगवाल्ठा' या 'चिपको' शब्द की पहली अभिव्यक्ति दशौली ग्राम स्वराज्य मण्डल की सभा में चंडी प्रसाद के मुँह से प्रकट हुई। तरह तरह के सुझावों के बाद यह निश्चय ही समाज के अन्तरतम से आई आवाज थी।

इसके बाद 24 अप्रैल 1973 को मण्डल की सभा में चिपको का पहला सार्वजनिक स्वर आलम सिंह बिष्ट की अध्यक्षता में प्रकट हुआ और आवंटित पेड़ों को कम्पनी के आदमी नहीं काट सके। कम्पनी को फाटा में पेड़ दे दिये गये। वहाँ केदार सिंह रावत के स्थानीय सहयोग से प्रतिकार हुआ और इसमें महिलाओं की प्रभावशाली हिस्सेदारी हुई। सफलता मिली। अब अनेक जंगलों के साथ रेणी का जंगल नीलाम हो चुका था। सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता, विद्यार्थी तथा जन प्रतिनिधि लगातार कार्यरत रहे। भट्ट के साथ गोविन्द सिंह रावत, हयात सिंह सहित अनेक स्थानीय विद्यार्थी थे। गोपेश्वर से जो महिलायें फाटा गईं वे बाद में रेणी भी गईं।

चिपको की चेतना जोशीमठ ब्लाक के अनेक गाँवों में टिक सकी। 26 मार्च 1974 को अपने पुरुषों की अनुपस्थिति में (प्रशासन ने चतुराई से इसी दिन भूमि के मुआवजे का भुगतान करने की ठानी) महिलाओं और बेटियों ने गौरादेवी की अगुवाई में अपना मायका बचा लिया। यह घटना विख्यात हुई। पर गौरादेवी चिपको आन्दोलन की जननी नहीं बेटी थीं। जैसे अन्य बेटियाँ और बेटे थे। इतिहास ने गौरादेवी को एक अलग ऊँचाई दी, जो सर्वथा स्वाभाविक था।

चिपको कमेटी बैठी, उसके सुझाव आये। पर जून 1975 से लगा आपातकाल डेढ़ साल तक चिपको के प्रवाह को अवरुद्ध कर गया। कार्यकर्ताओं के मनोविज्ञान में विनोबा और जयप्रकाश में से किसी एक को चुनने का भाव न था। सभी दोनों से प्रेरित रहे थे। आपातकाल के बाद जनता पार्टी के नेताओं की महत्वाकांक्षा, नासमझी और गैर जिम्मेदारी ने न सरकार रहने दी, और न जंगलात के मुद्दे सुलझाये जा सके।

इस तरह 1977 से 1980 तक चिपको की कितनी ही अभिव्यक्तियों में कार्यकताओं को महिलाओं, विद्यार्थियों, बुद्धिजीवियों और हिमालय प्रेमियों का असाधारण समर्थन मिला। मीडिया का भी।

इस क्रम में नैनीताल तथा नरेन्द्रनगर में नीलामियों का सफल विरोध हुआ। गिरफ्तारियाँ हुईं। फिर अदवाणी, भ्यूंढार, चांचरीधार, बडियारगढ़, ध्याड़ी, जनोटी पालड़ी, डूगरी पैंतोली, दूधातोली, बछेर और नन्दासैण सहित अनेक स्थानों पर चिपको के विभिन्न रूप प्रकट हुये। ये हिस्सेदारी और सत्याग्रह भाव के हिसाब से अप्रतिम थे। ये सभी चिपको चेतना से जुड़े थे और हर एक अपनी स्वायत्तता भी लिये था। महिलाओं और युवाओं का प्रभुत्व था। नैनीताल, अदवाणी, ध्याड़ी, नरेन्द्र नगर, जनोटी पालड़ी, अलमोड़ा, डूगरी पैंतोली आदि में जबर्दस्त दमन और गिरफ्तारियाँ हुई। अलमोड़ा जिले में तो कभी-कभी एक छापामार लड़ाई का भान होता था। राज्य द्वारा आरोपित हिंसा का प्रतिकार लोगों ने धरनों, नारों, गीतों और गिरफ्तारियों से दिया। शैलानी, गिर्दा और जीवानन्द श्रियाल जैसे गीतकार चिपको ने दिये थे। इस समय दमन का दायरा बढ़ाने वाले उत्तराखण्ड से ही चुने गये दो मंत्री थे। उत्तराखण्ड के समाज को नये प्रतिकारों को विकसित करने से पहले इसे समझना होगा कि चुने जाने बाद हमारे प्रतिनिधि जनविरोधी क्यों हो जाते हैं। क्यों वे जनता द्वारा चुने जाकर भी सिर्फ अपने राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि बन कर रह जाते हैं।

उपलब्धियाँ और दरार

हालांकि बहुल समाज को दिखाई नहीं दे रही थी पर अब तक चिपको में दरार आ चुकी थी। इसमें खुद सर्वोदय के नेताओं का रोल रहा और व्यक्तियों की महत्वाकांक्षा का भी। 1980 में सरकार बदल जाने के बाद नई सरकार ने सम्वाद किया और निर्णय लिये। सुन्दरलाल यात्राओं और प्रतिनिधि मण्डलों में लगातार चिपको का प्रतिनिधित्व करते रहे। उन्होंने ही रेणी की सफलता के बाद चिपको पर सबसे पहली और बेहतरीन पुस्तिका 1974 में लिखी थी। पर ज्यादा प्रत्यक्ष रूप से वे अदवाणी तथा बडियारगढ़ में सक्रिय रहे। यह दौर आपातकाल के बाद ही आया। इसलिये सिर्फ किसी एक के लिये 'चिपको का प्रणेता' जैसा शब्द इस्तेमाल करने से तनिक बचना उचित होगा। ये तमाम लोग अपने लिये 'चिपको का कार्यकर्ता' या 'संदेश वाहक' जैसा शब्द इस्तेमाल करते रहे थे।

1980 के वन संरक्षण अधिनियम का लागू होना, 1000 मीटर से ऊपर हरे पेड़ों के कटान पर रोक लगना और औद्योगिक घरानों को दी गई लम्बी समयावधि और सस्ते दामों वाली लीज का निरस्त होना मामूली बातें नहीं थी। वन मजदूरों की दशा को बदलने और बेहतर बनाने में चिपको का योगदान रहा। ठेकेदारी प्रथा समाप्त हुई। वन और पर्यावरण का स्वतंत्र मंत्रालय बना। हिमालय को लेकर अनेक कार्यदल बने। वन्य जीव संस्थान की स्थापना हुई। अनेक अन्य पर्यावरण कानून बने। वन आयोग बना और 2006 में वनाधिकार कानून भी आ गया। पर व्यवस्था भीतर से सड़ी की सड़ी रही। सभी निर्णय लागू नहीं हो सके। कुछ अधूरे मन से, कुछ बस औपचारिक रूप से लागू हुये।

क्या इस देश के सम्वेदनशील लोगों को और अभी सुन्दरलाल को श्रद्धांजलि देने वालों को बांधों और चारधाम सड़कों में नष्ट हुये जंगलों का ख्याल आ रहा है? पिछले ही माह जंगलात आन्दोलन द्वारा 1974 में बचाये गये वयाली के जंगल के कोविड जन्य बन्दी के बीच कटान से कोई पसीजा? सूखे और छपे पेड़ों के साथ हरे पेड़ भी वहाँ काटे गये। महीपाल, अरण्य रंजन और साहब सिंह अगर वहाँ नहीं गये होते तो किसी को पता तक नहीं चलता। यह जंगल भागीरथी और उसकी सहायक नदियों के नाजुक जलागम का हिस्सा था। वन निगम ही यह कटान करवा रहा था। वन निगम ने एकमात्र लकड़ी कटान और वितरण का काम कर ठेकेदारी प्रथा को दूसरी तरह से जीवित रखा, इसका भी यह उदाहरण है। इस तरह राज्य जंगलों का संरक्षक नहीं मालिक बना रहा।

अपने नये राज्य में एफ.आर.डी.सी. (वन तथा ग्रामीण विकास आयुक्त) जैसा संयुक्त विभाग बनाया गया। यह आर.एस. टोलिया की दृष्टि थी। पर उसे व्यवस्था टिका नहीं पाई। टोलिया के देहान्त के कुछ ही साल बाद यह व्यवस्था समाप्त कर ली गई। बीस साल की कुछ स्वाभाविक उपलब्धियाँ हो सकती हैं, जिसे मैं 'शरमा-शरमी विकास' कहता हूँ, पर ठोस कुछ ज्यादा है नहीं। इतनी शहादतों के बाद मिले राज्य को सबसे ज्यादा नेताओं ने नष्ट किया। नेताओं का इतना पिछड़ापन यह समाज जब तक सहेगा, अभिशप्त रहेगा। पर यह अभी विषयान्तर होगा। नये राज्य में बहुगुणा, भट्ट, राधा बहन, के.एस. वल्दिया, आदित्य पुरोहित अथवा धर्म सिंह रावत के परामर्श का कोई अर्थ न था। कभी-कभी कुछ को शोभा के वास्ते बुलाया भी जाता रहा।

कश्मीर कोहिमा यात्रा

हर रचनात्मक व्यक्ति बेचैन होता है और सुन्दरलाल भी थे। पिछली फुटकर

यात्राओं में हिमालय के कुछ हिस्सों को देख चुके थे। 30 मई 1981 से किश्तों में सम्पन्न कश्मीर (श्रीनगर)-नागालैंड (कोहिमा) यात्रा 1 फरवरी 1982 को कोहिमा में समाप्त हुई। लगभग 4800 किमी. लम्बी यात्रा के प्रभाव पता करने मुश्किल हैं। एक मुलाकात में जैसे किसी व्यक्ति को पूरा नहीं जान पाते वैसे ही एक यात्रा में किसी क्षेत्र या विशाल पर्वतमाला से भी गहरा सम्बंध नहीं बना सकते। दूरस्थ दुर्गम इलाकों में और भी मुश्किल होता है। पर यात्री इन यात्राओं से सदा बहुत अधिक सीखते हैं। जैसे एक साथ बहुत किताबें पढ़ने का मौका मिला हो।

'हिमालय बचाओ' की मूल चेतना इस यात्रा से निकली। यात्री एक साथ पूरे हिमालय को देख रहे थे। अलग-अलग देशों, प्रान्तों, पारिस्थितिक खण्डों और अक्षांश-देशान्तरों में बंटा हुआ हिमालय। अलग अलग समुदायों और जीवन पद्धतियों द्वारा संचालित। उसे समझने का यात्रा के अलावा कोई और तरीका भी नहीं था। सुन्दरलाल की हिमालयी दृष्टि इससे बनी। आज हमारे लिये वह एक प्रेरणा की तरह है।

मैंने उनसे शायद 1995-96 में पूछा था कि लिखेंगे कब अपने अनुभवों को? उनका मुस्कान के साथ उत्तर था कि आपने (वह तुमने नहीं बोलते थे) तीन अस्कोट-आराकोट यात्रायें कर डाली हैं पूरी की पूरी, तो क्यों नहीं लिखा? मैं निरुत्तर था। फिर कहा कि लिखने का समय भी आयेगा। हिमालय की विशालता और इतनी तरह की विविधता को अभी और समझना है। पूर्व में अलग, मध्य में अलग और पश्चिम में अलग। समस्याएँ और चुनौतियाँ एक तरह की। सम्पदा की लूट और पिछड़ापन या मासूमियत एक तरह की। मैं सुनता रहा और समझने की कोशिश करता रहा। इसी तरह की बात चंडी प्रसाद भट्ट या राधा बहन भी करती रहीं जब उनसे यात्राओं पर कुछ लिखने का आग्रह किया जाता।

टिहरी बाँध विरोधी आन्दोलन

बहुतों को याद नहीं होगा कि टिहरी क्षेत्र से भारत की पहली संसद में सदस्य रही कमलेन्दुमती शाह ने 1969 में टिहरी बांध के विरोध में पत्र भेजा था। 'गढ़वाली' के सम्पादक विश्वम्भर दत्त चंदोला ने कभी इसी तरह के विचार रखे थे। टिहरी जिला परिषद ने 1972 में सर्वसम्मत प्रस्ताव बाँध के विरोध में सरकार और जन प्रतिनिधियों को भेजा था। टिहरी की महानतम हस्ती, संग्रामी और वकील वीरेन्द्र दत्त सकलानी (जो ग्राम सभापति, नगर पालिका अध्यक्ष और विधायक भी रहे थे) ने टिहरी बाँध के तमाम आयामों पर विस्तृत अध्ययन कर और इस हेतु टिहरी बाँध विरोधी संघर्ष समिति बनाकर 1978 में सर्वोच्च न्यायालय में प्रतिवेदन किया था। सकलानी के अध्ययन और भावना का सार था कि 'टिहरी बाँध सम्पूर्ण विनाश का प्रतीक है।'
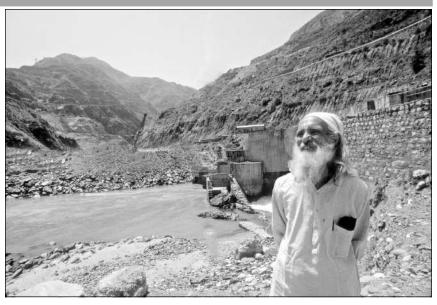
1 जून 1978 को जब काम शुरू हुआ तो लोगों ने बाँध स्थल पर धरना दिया था। बहुगुणा इस आन्दोलन में प्रत्यक्ष 1985 में आये जब वे कुछ फुरसत पा गये थे। पर वे प्रारम्भ से ही इसके विरोध में थे और मनेरी-भाली जैसी छोटी परियोजना के पक्ष में 'धर्मयुग' में लेख भी लिख रहे थे। छोटी परियोजनाओं के औचित्य पर उन्होंने 'धार ऐंच पाणि ढाळ पर डाला, बिजली बणावा खाळा-खाळा' अर्थात 'पहाड़ की चोटी पर पानी, ढलानों पर पेड़ और गाड़-गधेरों में बिजली' का सूत्र दिया था।

भागीरथी और भिलंगना घाटियों की सिर्फ कृतघ्न संतानें ही बाँध का पक्ष ले सकती थीं। अतः लगातार जन समर्थन मिला। 1989 में सकलानी के अधिक अस्वस्थ हो जाने के बाद कमान सुन्दरलाल ने संभाली। 24 नवम्बर 1989 को उन्होंने टिहरी में घोषणा की कि जब तक टिहरी बांध परियोजना रद्द नहीं होगी वे सिल्यारा नहीं जायेंगे। वे नहीं गये, नहीं जा सके। तीन दशक तक अपने घर न जा पाने का दर्द अपार था। मध्यप्रदेश की छोटी कस्सारट में ऐसी ही जिद बाबा आमटे ने भी की, नर्मदा में बन रहे बांधों के खिलाफ। पर अन्त में उनको स्वास्थ्य के कारणों से जाना पड़ा। सुन्दरलाल टस से मस नहीं हुये। 1991 के भूकम्प के समय विमला भूकम्प से ध्वस्त सिल्यारा गईं। हमारी उनसे तब वहीं मुलाकात हुई थी।

टिहरी की जनता, वहाँ के बहुत से सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ताओं और विमला-सुन्दरलाल के जीवन का एक बड़ा अनुभव रहा टिहरी बांध विरोधी आन्दोलन। यह हार की जीत थी। भारत सरकार जिन वास्तविकताओं को स्वीकारती थी, उनकी ही अवमानना करती थी। वैज्ञानिक कमेटियाँ बिठाई पर बात उनकी नहीं मानी। विनोद गौड़ तथा जेम्स ब्रून के आर.आइ.एस. फैक्टर को स्वीकारा पर लागू नहीं किया। 1990 में डी.आर. भुम्बला की अध्यक्षता वाली समिति ने छोटे बांधों का सुझाव दिया। कौन मानता ? हनुमन्ता राव की बातें सराही गईं पर मानी नहीं गईं। 20 अक्टूबर 1991 के 6.6 रैक्टर के भूकम्प से भी सरकार ने नहीं सीखा।

दूसरी तरफ स्थानीय समाज को भ्रष्ट किया गया। नकली मकान बनाने और

उनके मुआवजे की व्यवस्था कर दी गई। स्थानीय समाज विभाजित होता गया। अनेक पत्रकार और नेता खरीदे जा चुके थे। निहित स्वार्थ इतने सुसंगठित पहले कभी नहीं दिखे। एक ऐतिहासिक शहर, दो घाटियों में फैले सम्पन्न खेतीहर समाज को नियोजित तरीके से उजाड़ा गया। अब टिहरी झील की सतह पर मोटरबोट में सैर कराने या करने वाले जो डूब गया उसका अर्थ कभी समझेंगे क्या? उन्हें तो प्रतापनगर की ओर के धंसते पहाड़ या पानी की सतह के अनुसार बदलते मुर्दाघाट भी नजर नहीं आयेंगे।

बांध विरोधी आन्दोलन में सुन्दरलाल ने कम से कम चार बार अनशन कर अपने प्राणों को जोखिम में डाला। उनका शरीर अनशनों के दुष्प्रभाव को अंत तक झेलता रहा। धीरे-धीरे साथी कम होते गये। यह उनकी नहीं, उस समाज की पराजय थी, जो पिछली डेढ़ सदी से अपने गाँवों से भाग रहा था। उस समाज का मनोविज्ञान नर्मदा के किसानों की तरह का नहीं था, जो नाउम्मीदी के बावजूद अभी भी लड़ रहे हैं। पर टिहरी की हार इस अर्थ में जीत थी कि देश के अधिकांश लोगों ने यह महसूस किया कि टिहरी में गलत किया जा रहा है। नर्मदा आन्दोलन ने भारतीय राज्य की नग्नता पूरी दुनिया के सामने रख दी। नये क्षेत्र में तथाकथित सिंचाई व्यवस्था करने के लिये एक प्राचीनतम खेतिहर-पशुचारक समाज को समयबद्ध तरीके से उजाड़ा गया।

टिहरी आन्दोलन के बाद न सुन्दरलाल सिल्यारा लौट सके न विमला। सिल्यारा आश्रम तीस से अधिक सालों से अपने संस्थापकों का इन्तजार करता रहा है। विमला माता का तो अपना शिक्षा और संगठन का ऐजेण्डा ही स्थगित हो गया। पर वे सुन्दरलाल के साथ छाया नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व और आन्दोलनकारी की तरह रहीं। वे अपने जीवन साथी की जिद जानतीं थीं और उनके भीतर छिपी वह बेचैनी भी जो अपनी धरती उजड़ने देने को तैयार नहीं थी। सुन्दरलाल की ऊँचाई बिना विमला के नहीं बनती है, इसे नहीं भूलना चाहिये।

हिमालय बचाओ

कश्मीर कोहिमा के सघन अनुभवों और टिहरी आन्दोलन की जीत न हो सकने के बाद सुन्दरलाल को लगा कि हिमालयी विकास की कोई वैकल्पिक दृष्टि और नीति होनी चाहिये। 'हिमालय बचाओ' की चेतना इस यात्रा से और टिहरी के अनुभवों से निकली। हिमालय में युद्धजन्य परिस्थिति से शुरू हुआ 'विकास' बाद में बाजार की अर्थव्यवस्था, भोगवाद, कारपोरेट वर्चस्व के दौर में 'महाविकास' में बदल गया। भाजपा के सत्ता में आने के बाद यह हिंसा और विध्वंस से भरपूर हो गया। इसने तीर्थयात्रा को फूहड़ पर्यटन में बदलने का दुस्साहस किया। 1991 का भूकम्प, 2013 की महाआपदा और अब 2020-21 की महामारी से भी जो व्यवस्था विवेक और सही रास्ता अर्जित नहीं कर सकी, वह जन आन्दोलन या सुन्दरलाल के कहने से मान जायेगी यह सोचना कहीं से भी सही नहीं होगा। पर यह समाज और इसके सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यकर्ता चुप हो जाएं, यह अपेक्षा भी मान्य नहीं हो सकती।

पर 'हिमालय बचाओ' का दस्तावेज अधूरा रहा। क्योंकि इसको संस्कृति कर्मियों, वैज्ञानिकों और समाज वैज्ञानिकों का अधिक तार्किक आधार नहीं मिला। वे इसे अधिक लोगों के बीच भी नहीं ले जा सके। हमारे पास ऐसे विज्ञानी थे भी नहीं जो अपने सीमित अनुशासनों या विशेषज्ञता से बाहर निकल सके हों। पत्रकार-लेखकों की रचनात्मक टोली भी नहीं बनी। जबकि छोटे से देश भूटान ने अपने देश में विकसित 'सकल राष्ट्रीय खुशी' (जी.एन.एच.) के दर्शन पर बहुत अच्छी चर्चा करके उसे परोसने और स्वीकार करने लायक बना दिया है।

'पारिस्थितिक समाज' का विचार विकसित होना कठिन तो था पर जरूरी भी है। पूंजी कभी भी पारिस्थितिकी को नहीं बख्शती है और न तकनीक ही समता की ओर ले जा सकी है। पारिस्थितिक समाज का विचार परम्परा में सदा निहित रहा पर परम्परा में मामूली और गैर जरूरी चीजें भी कम नहीं थीं। मार्क्स-ऐंगिल्स के 'डायलैक्टिक्स ऑफ नेचर' या गाँधी के 'हिन्द स्वराज' में इसके वैचारिक बीज खोजे जा सकते हैं। उनके बाद के तमाम और लोगों में इस जरूरी विचार के सूत्र या परछाइयाँ पाई जा सकती हैं। सरला बहन ने भी यह कोशिश की थी। जिस समाज में तीन चौथाई से अधिक जनसंख्या दयनीय हालत में हो और मुट्ठी भर लोग देश की प्राकृतिक सम्पदा, सम्पत्ति और समृद्धि पर कब्जा किये हों, मध्यम वर्ग जहाँ सिर्फ अपनी धुन में रहता हो, चिंतकों के स्थान पर जहाँ चाटुकार प्रभावी हों, मीडिया जहाँ मृतप्राय हो वहाँ 'पारिस्थितिक समाज' का विचार जन-गण के मन तक कैसे जाय यह बहुत बड़ा सवाल है। इसकी अपेक्षा सिर्फ सुन्दरलाल से करना उचित नहीं है।

इसलिये कभी भी हिमालय को क्यों, किससे और कैसे बचाना चाहिये का गहन विश्लेषण नहीं हो सका। इस बड़ी बात को हम बहुत से छोटे मुँह वाले ठीक से कह भी नहीं पाते थे। सत्ता से सम्वाद तो शायद करना पड़ेगा पर सत्ता से सम्मान लेकर यह कठिन विचार विकसित नहीं हो सकता है। जिन सरकारी सम्मानों को सरला बहन ने खारिज कर दिया था आज उनके आधार पर हम सुन्दरलाल को तोलते हैं। क्या इनके बिना वे छोटे होते? कोई सज्जन कह रहा था कि उनको नोबल पुरस्कार मिलना चाहिये। क्यों नहीं! हिमालय चेतना बनाने के लिये दिया जाना चाहिये। पर सोचिये
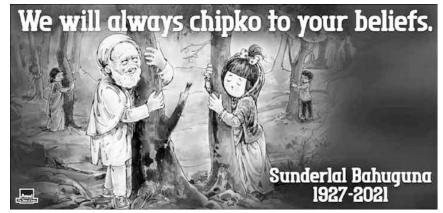
जरा कि दलाई लामा को नोबल पुरस्कार मिलने से तिब्बत का प्रश्न कहीं से सुलझता हुआ लगा? कैलाश सत्यार्थी को नोबल मिल जाने से बच्चों, बंधुवा बच्चों और भारतीय बचपन की दिक्कतें सुलझ गईं? व्यक्तिगत शोभा कभी सामाजिक सौन्दर्य का सृजन नहीं करती है।

एक और बात सामने आती है। शॉर्ट कट के कारण अनेक बार सामाजिक कार्यकर्ता अपनी छवि धूमिल कर जाते हैं। मई 1973 में सुन्दरलाल गोपेश्वर आकर पैदल यात्रा में निकल गये जबकि फाटा आन्दोलन की तैयारी हो रही थी। चिपको आन्दोलन में 1977-79 का समय ऐसा रहा जब चिपको पर कुछ ऐसे लिखने वाले आये जिन्होंने झूठ लिखा और आन्दोलन के मुख्य लोगों के बीच कभी न पटने वाली दरार डाल दी। जब सुन्दरलाल को अन्त में 'इकोलॉजी इज परमानेंट इकानॉमी' ही कहना था तो उन्होंने उस झूठ को क्यों प्रचारित होने दिया कि चमोली में चिपको आर्थिक था और अदवाणी में वह पारिस्थितिक हो गया। चंडीप्रसाद को वे अपना नेता कहते थे। फिर यह मतिभ्रम क्यों हुआ ?

इसी तरह बी.बी.सी. को चिपको के नाम पर स्वयं पर केन्द्रित फिल्म बनाने से उनको मना करना चाहिये था। तभी से चिपको आन्दोलन की नकली फोटो चल पड़ी, जिन्हें सबसे पहले जयन्तो बन्द्योपाध्याय ने पकड़ा था। प्रत्यक्ष आन्दोलन में कभी कोई कैमरा लेकर नहीं गया था। यह राज्यपाल की उपस्थिति में वन महोत्सव नहीं था। ग्रामीण जन अपनी अस्तित्व रक्षा के लिये आये थे। चिपको आन्दोलन में एक घटना छोड़कर कभी चिपकने की नौबत नहीं आई। यह नारा ही काफी था। यह एक बार पेड़ से चिपकना धूमसिंह नेगी के हिस्से आया। सर्वोदय के प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय नेताओं ने भी गलतफहमियों में कम योगदान नहीं दिया। पर जिन कमजोरियों का फायदा उठाया गया वह तो यहाँ के आन्दोलनकारियों की थीं।

टिहरी बाँध आन्दोलन के समय वे विश्व हिन्दू परिषद के नेताओं के बहकावे में आ गये, जो फिर कभी गंगा के पक्ष में नजर नहीं आये। इसी तरह उपवास, भूख हड़ताल या अनशन वाला पक्ष भी व्यक्तिवादी

लगता है। यह दरअसल उनकी कमजोरी थी पर वे इसे ब्रह्मास्त्र समझते थे। विनोबा ने ही नहीं, सरला बहन ने भी इसकी साफ मनाही की थी। कहा था कि जब जन सहयोग मिल रहा हो, साथी सक्रिय हों तो अनशन क्यों किया जाय। इससे आन्दोलन व्यक्ति केन्द्रित हो जाता था। उनके कुल सात या आठ उपवास चर्चित रहे। दो बार नशाबन्दी में, दो बार चिपको आंदोलन में और चार बार टिहरी बाँध आंदोलन में। उनको आजादी से पहले एक बार और आजादी के बाद अनेक बार जेल जाना पड़ा।

23 जून 1995 को तो उन्हें 70 से भी अधिक दिन उपवास करते हो गये थे। यह लगभग दर्शनसिंह फेरूमान का चण्डीगढ़ को पंजाब को देने के लिये की गयी भूख हड़ताल की तरह था। हर बार कोई मंत्री, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री आश्वासन देता और लगता कि शायद अब बाँध का काम रुक जायेगा। पर यह भ्रम में रखना ही था। क्योंकि फिर उनको गिरफ्तार कर लिया जाता। वे भी यह भूल जाते कि वे सामाजिक आन्दोलनकारी हैं, राजनैतिक आन्दोलनकारी नहीं। उनकी सीमा सत्याग्रह है, जिसका सम्मान सरकारें नहीं करतीं हैं। जरा सोचें कि चारधाम सड़कों या पंचेश्वर बाँध के खिलाफ आज वे या कोई भी आन्दोलन कर सकते थे? यह याद करें कि प्रोफेसर जी.डी. अग्रवाल को किस तरह वर्तमान सरकार ने मृत्यु शैया से बाहर नहीं निकलने दिया, जबकि उनकी माँग टिहरी बाँध के मुकाबले सामान्य थी।

जोड़ने वाले

अगर उक्त तमाम जन आन्दोलनों को सामूहिकता और बड़ी टीम से जोड़ दें, विभिन्न विचारों के कर्मठ और सम्वेदनशील लोगों के सहयोग को भी स्वीकार करें तो भी हिमालयी चेतना को फैलाने में उनका योग प्रतीकात्मक रूप से ही सही माना जाना चाहिये। एक सक्रिय पत्रकार और प्राञ्जल गद्य लेखक के रूप में वे सदा याद किये जायेंगे। 'बागी टिहरी', 'उत्तराखण्ड में एक सौ बीस दिन', 'धरती की पुकार', तमाम चिपको पुस्तिकायें और पिछले 50-60 साल के दौर में लिखे गये उनके लेख उनके योगदान को उजागर करने के साथ हमारे समाज के लिये भी उपयोगी होंगे। उनकी अपनी विकास यात्रा के संदर्भ भी हैं।

वे एक जोड़ने वाले व्यक्ति के रूप में भी याद किये जायेंगे। यह उनके बड़े 'सामाजिक स्वार्थ' से जुड़ा हुआ था। वे चाहते थे कि विचारवान, रचनात्मक और सृजनशील लोग आपस में जुड़ें। अनेक बार तो वे एक सी वृत्ति या रुझान के लोगों को मिलाते तो कभी अलग-अलग तरह के लोगों को, जो बाद में फिर मित्र या सहयात्री हो जाते। जनवरी 1974 में एक अन्जान विद्यार्थी का 'शक्ति' पत्रिका में छपा लेख पढ़ कर वे उसे खोजने निकल गये। अन्तत: उन्होंने शमशेर और मेरी मुलाकात कुंवर प्रसून और प्रताप शिखर से कराई और अस्कोट-आराकोट अभियान का विचार हमारे दिमाग में बो दिया। इसी तरह प्रभात उप्रेती, भगवती नौटियाल की टीमों को जोड़ने का

काम था या कुलभूषण उपमन्यु और पाण्डुरंग हेगड़े को। और भी कितने ही। ये सभी हमारे हीरे हैं।

किसी भी शहर में जाने पर वे प्रबुद्ध लोगों से मिलते। मुझे यह याद नहीं कि साल कौन सा था। शायद 1976-77 होगा। मैं कोटद्वार में भैरव दत्त धूलिया के पास 'कर्मभूमि' की फाइलें देख रहा था। बाहर खुली छत पर उनके साथ मुकुन्दीलाल, चन्द्र सिंह गढ़वाली, बनारसी दास चतुर्वेदी बैठे थे। कुछ देर बाद शिवप्रसाद डबराल के साथ सुन्दरलाल बहुगुणा आते हुये दिखे। दरअसल सुन्दरलाल दुगड्डा में डबराल से मिलकर उन्हें बनारसी दास चतुर्वेदी से मिलाने कोटद्वार लाये थे। जब बनारसी दास उनके बेटे के निवास पर नहीं मिले तो वे उन्हें 'कर्मभूमि' के दफ्तर में ले आये। इतनी प्रतिभाओं को एक साथ देखना मेरे लिये दुर्लभ अनुभव था। एक बार वे नैनीताल आये। मुझे उनको लेकर डी.डी. पन्त, के.एस. वल्दिया, प्रताप भैया, चन्द्रलाल साह और शुकदेव पांडे के यहाँ जाना पड़ा। फिर वे आनन्द निवास में गंगा बहन से मिल कर राजीव लोचन साह के पास गये। ऐसा वे हर कहीं करते थे।

विमला बिना नहीं सुन्दरलाल

1956 के बाद हम सुन्दरलाल के एक व्यक्ति और सामाजिक चिन्ताओं के लिये जूझने का हुनर प्राप्त करने वाले कार्यकर्ता के रूप में विकसित होने में विमला का योगदान नहीं भूल सकते। जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ कि वे छाया की तरह नहीं सम्पूर्ण कार्यकर्ता की तरह उनके साथ थीं। इसलिये इससे सुन्दरलाल की ऊँचाई बढ़ती जाती थी। 1990 के बाद विमला को अपना कार्यक्रम छोड़ना पड़ा। नवजीवन आश्रम श्रीविहीन हो गया। कोई और कार्यकर्ता भी वहाँ नहीं टिक सका। सर्वोदयी संस्थाओं को पर्याप्त खुला और सार्वजनिक नहीं बनाया जा सका। इसलिये एक-एक कर ये जीवन्त स्थान जीवन शून्य हो रहे हैं। कुछ में तो कब्जे भी हो गये हैं या उजड़ गये हैं। जैसे शेरसिंह कार्की का मवानी आश्रम या सदन मिश्रा की मेहनत से बना उडियारी आश्रम।
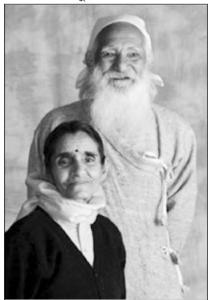
फोटो: डैन जैनसन

पर लगभग तीन दशक से ज्यादा समय तक नवजीवन आश्रम सिल्यारा ने इस क्षेत्र की चेतना बढ़ाने में बहुत बड़ा योग दिया। इसके बिना हमें चन्द्र सिंह जैसे अधिकारी, बिहारीलाल जैसे समाजकर्मी, त्रेपन सिंह चौहान जैसे कार्यकर्ता और लेखक, भगवती प्रसाद मैठाणी जैसे भूगोलविद, वाचस्पति मैठाणी जैसे संस्कृतज्ञ या भगवती नौटियाल जैसे जंगलात तथा लोक हुनरों के विशेषज्ञ नहीं मिलते। इसी तरह की भूमिका टिहरी के ठक्कर बापा छात्रावास की भी रही।

सुन्दरलाल की महिलाओं के प्रति अधिक जिम्मेदारी का भाव निश्चय ही विमला से अनुप्रेरित था। दलितों के पक्ष में लड़ने का सूत्र उन्हें गाँधी से मिला था पर महिलाओं के प्रश्नों, उनकी सामाजिक स्थिति और पुरुष नेतृत्व की सीमित दृष्टि पर उनकी नजर विमला के संग आने के बाद ही गई। शायद सरला बहन को उन्होंने तभी ज्यादा समझा। वे अनेक बार कहते रहे कि जब तक आधा समाज पीछे और वंचित रहेगा तब तक सामाजिक लड़ाइयों का औचित्य कायम रहेगा।

कहा जाता है कि कमियाँ गाँधी में भी थी, तो सुन्दरलाल उनसे मुक्त कैसे हो सकते थे। पर सामाजिक कर्म में इतिहास किसी को गल्तियाँ सुधारने का मौका नहीं देता है। हिमालय चेतना बनाने, हिमालय के पर्यावरण, जलवायु परिवर्तन, पानी के संकट, विस्थापन और पलायन के सवालों को राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर निरंतर उठाने के लिये वे याद किये जाते रहेंगे। वे एन.जी.ओ. युग से पहले के स्वयंसेवी थे। अपने पर न्यूनतम खर्च करने वाले। 80 साल की उम्र में वे बस यात्रा कर रहे थे। अब ऐसे 2-4 ही बचे हैं। वे जिद्दी थे। शायद जिद कर्मठता का हिस्सा भी है पर सामाजिक आन्दोलनों तथा परिवर्तन के लिये एक न्यूनतम लचीलेपन की भी जरूरत होती है। उत्तराखण्ड की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान सबसे ज्यादा सामाजिक कार्यकर्ताओं और सामाजिक आन्दोलनों से ही बनी। इसमें सुन्दरलाल बहुगुणा की महत्वपूर्ण भूमिका सदा याद की जायेगी। अन्तिम सलाम। ●

('परिक्रमा', तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल-263002 मो. 9412085755)

उनके लेखन ने उन्हें लक्ष्य तक पहुँचाया

❑ संजय कोठियाल

आदरणीय बहुगुणा जी के साथ युगवाणी के दफ्तर में मेरी अनेक स्मृतियाँ हैं। वह जब भी देहरादून आते, आचार्य जी से भेंट करने युगवाणी में हाजरी अवश्य बजाते। उनकी विशेषता यह थी कि 80 के दशक में जब वह धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान सहित अनेक विदेशी पत्रिकाओं में निरन्तर छप रहे थे, उसी दौर में उनके लेख युगवाणी और सीमान्त प्रहरी में भी पढ़ने को मिल जाते थे। आन्दोलनों की अपडेट वह क्षेत्रीय पत्र-पत्रिकाओं समेत राष्ट्रीय मीडिया को भी बराबर प्रेषित करते थे। इलस्ट्रेटेड वीकली से लेकर दुनिया की सबसे अधिक प्रसार वाली रीडर डाइजेस्ट पत्रिका तक ने उनके लेखों की सीरीज उस दौर में प्रकाशित की।

सुन्दरलाल बहुगुणा एक सिद्धहस्त पत्रकार थे। सिंगल सिटिंग में ही वह पूरा आलेख निपटा देते थे। युगवाणी के दफ्तर में ऐसा करते हुए उन्हें मैंने कई बार देखा है। राजीव भाई को भी यह गुण अपने पिता से ही विरासत में मिला है। दो-तीन मर्तबा टिहरी में आन्दोलन के दौरान भी मैंने उन्हें ऐसा करते देखा है। जब तक सभा समाप्ति का समय आता था, उससे पहले वह उस आयोजन की प्रेस रिपोर्ट तैयार कर देते थे। बाद में इस जिम्मेदारी को कुंवर प्रसून निभाते रहे।

70 और 80 के दशक में जब वह वन बचाओ, शराबबन्दी और दलित चेतना के लिए पहाड़ के अन्तराल स्थित गाँवों में आन्दोलन की अगुवाई कर रहे थे, तब पहाड़ में अखबारों के नाम पर कर्मभूमि, युगवाणी, सीमान्त प्रहरी और नया जमाना सहित कुछ ही अखबार पहुँच पाते थे। राष्ट्रीय समाचार पत्रों की आमद तो एक दिन बाद ही जिला मुख्यालयों तक हो पाती थी। ऐसे में अपने संघर्षों को व्यापक रूप से पहाड़ के आमजन तक पहुँचाने के लिए उन्होंने इन्हीं लघु समाचार पत्रों से सहयोग लिया और राष्ट्रीय स्तर पर जन-जागरण के लिए उन्होंने दिल्ली के मीडिया हाउसों तक इन आन्दोलनों की जानकारी अनवरत साझा की। उनके मुद्दे जितने प्रभावशाली थे, उससे ज्यादा परफैक्ट उनका लेखन था

जो बिना ऐडिटिंग के हूबहू राष्ट्रीय स्तर की पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुखता से स्थान हासिल कर लेता था। इसका नतीजा यह हुआ कि सुदूर पहाड़ों में होने वाली हलचल की ताप दिल्ली और लखनऊ के राजनैतिक गलियारों में सुनाई देने लगी और वह पहाड़ में शराबबन्दी, दलितों का मन्दिर प्रवेश और चिपको को राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करने में कामयाब हो सके। यह सब उनके लेखन और प्रत्रकारिता की बदौलत ही संभव हो सका।

बहुगुणा जी के अन्दर गजब की ऊर्जा और जबरदस्त आत्मविश्वास था। आज कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समूचे मध्य हिमालय का भूभाग पैदल ही नाप दिया। वर्षों तक चलने वाली उनकी 'कश्मीर से कोहिमा' तक की यात्रा इसका प्रमाण है। अपनी यात्रा का रोजनामचा वह नियमित डायरी में उतारते और उसे कम्पाइल करते हुए यात्रा के हर पड़ाव पर उनके दो-एक लेख तैयार हो जाते जो डाक द्वारा क्षेत्रीय अखबारों से लेकर राष्ट्रीय अखबारों को प्रेषित हो जाते। उनकी यात्राओं के साथ उनका लेखन भी अनवरत चलता रहा। उनकी एक खूबी यह भी थी कि अखबार चाहे छोटा हो या बड़ा वह उसके लिए बिल्कुल ताजा आलेख ही लिखते थे। उनके मुद्दे और विषय इतने व्यापक थे, जिन पर उन्होंने पूरे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपना पक्ष रखा और देश-दुनिया को उन विषयों पर चिन्तन मनन करने पर मजबूर किया।

लेखन में उनकी सहज प्रवृति का मैं तब कायल हुआ जब 1986 में हम युगवाणी का 'पर्यावरण पर केन्द्रित विशेष अंक' प्रकाशित कर रहे थे। इसी सिलसिले में मैं रोडवेज की बस में बैठकर टिहरी जा रहा था। ऋषिकेश के नटराज चौराहे पर जब बस रुकी तो पिट्ठू लादे बहुगुणा जी बस में सवार हुए। बस खचाखच भरी थी और मैं पत्रकार के लिए आरक्षित सीट पर बैठा था। उन्हें देखते ही मैंने उन्हें अपनी सीट ऑफर की और उनके बगल में खड़ा हो गया। बातों का सिलसिला शुरू हुआ तो मैंने उन्हें प्रस्तावित विशेषांक के बाबत बताया। नरेन्द्रनगर से पहले पॉलिटैक्निक में एक छात्र बस से उतरा और मैं पीछे बैठ गया। तभी मैंने देखा कि बहुगुणा जी ने अपने पिट्ठू से चिमटी लगा कार्डबोर्ड निकाला और दो फुलस्केप कागज में वह कुछ लिखने लगे। संभवत: वह खाड़ी में आयोजित किसी बैठक में शामिल होने जा रहे थे। लगभग 40 मिनट बाद जब वह खाड़ी में उतरे तो उन्होंने मुझे बुलाकर वो लिखे दो पन्ने सौंपे, जो उन्होंने हमारे विशेषांक के लिए चलती बस में ही लिख डाले थे। चलती गाड़ी में और वो भी तब की यू.पी. रोडवेज की बस में, जब आप हिचकोले खाती बस में अखबार तक नहीं पढ़ पाते तब उन्होंने नरेन्द्रनगर से खाड़ी तक के 25 किलोमीटर के रास्ते में एक भरा-पूरा लेख लिख डाला, जो उस विशेषांक के पहले पन्ने में प्रकाशित हुआ।

आज की पीढ़ी को शायद आदर्श पत्रकार की भूमिका और उसकी गहन लोकतांत्रिक आकांक्षाओं का अंदाजा भी नहीं होगा। ऐसे ही पत्रकार थे सुन्दर लाल बहुगुणा। राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं से लेकर क्षेत्रीय समाचार पत्रों में समान जिम्मेदारी से लिखते रहे। इस जन भावना से वे बेहतरीन सम्प्रेषण कला अर्जित करते हैं और एक वैश्विक जन संवाद कायम कर पाते हैं जिसे भविष्य में बार-बार याद किया जाएगा। समूचे युगवाणी परिवार की ओर से उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि। ●

दिलों में जनसरोकारों की लौ लगाने वाला इक चिराग

❑ **अरविंद शेखर**

दिलों में जनसरोकारों की लौ लगाने वाला इक चिराग नहीं रहा। नया इंसान गढ़ने वाले कुम्हार सरीखे इतिहासकार-संपादक व संस्कृतिकर्मी प्रो. लाल बहादुर वर्मा रविवार 17 मई 2021 को नहीं रहे। लाल बहादुर वर्मा पिछले चार साल से साईलोक कालोनी कारबारी ग्रांट बड़ोवाला देहरादून में रह रहे थे। कोरोना संक्रमण से ऑक्सीजन स्तर कम होने पर गत पाँच मई को उन्हें दून के इंद्रेश अस्पताल में भर्ती कराया गया था। प्रो. वर्मा को किडनी की भी दिक्कत थी। हालांकि उनके फेफड़ों का संक्रमण खत्म हो गया था पर किडनी में दिक्कत शुरू हो गई। रक्तचाप बहुत कम होने के कारण उनका डायलिसिस ठीक से नहीं हो पाया और रविवार रात उनकी हृदयगति रुक गई। 17 मई को ही देहरादून के रायपुर में उनका अंतिम संस्कार कर दिया गया। अब परिवार में उनकी पत्नी रजनीगंधा, बेटी आशु , दामाद दिगंबर और बेटा सत्यम वर्मा हैं।

हिंदी पट्टी की कई पीढ़ियों में परिवर्तनकामी इतिहास चेतना की सही समझ पैदा करने वाले प्रो. लाल बहादुर वर्मा उम्र के इस पड़ाव में भी सक्रिय थे। कुछ समय पहले वे किसान आंदोलन को समर्थन देने किसानों के मोर्चे में शामिल होने दिल्ली गए थे। उनका विश्वास था कि 'इतिहास आदमी के इंसान बनने की जद्दोजहद का दस्तावेज है।'

वह ताउम्र न जाने कितने रचनाधर्मियों के प्रेरक रहे। उम्र सम्बन्धी शारीरिक दिक्कतों के बावजूद दून में भी जनता के आंदोलनों में सक्रिय भूमिका निभाते रहे और लोगों को कुछ नया रचनात्मक करने को प्रेरित करते थे। एक गुरु, एक मित्र और एक गाइड प्रो. वर्मा कहते थे हम इतिहास में पैदा होते हैं और इतिहास रचते हुए इतिहास बन जाते हैं। प्रो. वर्मा संकीर्णताओं और कट्टरवाद से परे थे। यही खासियत हर खुले दिमाग के शख्स को उनका मुरीद बना लेती थी। उन्होंने अपने व्यक्तित्व और स्वभाव के बारे में 'कथन' पत्रिका को दिए एक साक्षात्कार में कहा था कि 'मैं अकादमिक और साहित्यिक होते हुए भी एक्टिविस्ट रहा हूँ। जब गोरखपुर में था, तब भी जब इलाहाबाद में था, तब भी और अब जबकि देहरादून में रहता हूँ तब भी। हालांकि अब मैं बूढ़ा और रिटायर हो गया हूँ- मैं एक काम हमेशा करता रहा हूँ: दोस्ती करना। आज की दुनिया में जबकि दुश्मनियाँ बढ़ाई जा रही हैं, दोस्त बनाना एक तरह का एक्टिविज्म है, एक तरह का विद्रोह है, एक तरह के विपक्ष का निर्माण है।'
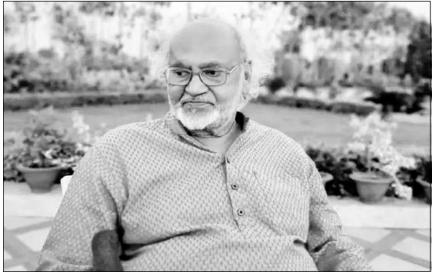
एक छोटे से कस्बे से स्कूली शिक्षा हासिल करने से लेकर पेरिस तक पहुँचने वाले प्रोफेसर वर्मा की विद्वता हैरान करने वाली थी। 1953 में उन्होंने हाईस्कूल की परीक्षा जयपुरिया स्कूल आनंदनगर, गोरखपुर से पास की। 1957 में गोरखपुर के सेंट एंड्रयू कॉलेज से स्नातक किया। 1959 में लखनऊ विवि से स्नातकोत्तर के बाद उन्होंने 1964 में गोरखपुर विश्वविद्यालय से प्रो. हरिशंकर श्रीवास्तव के निर्देशन में एंग्लो इंडियन कम्युनिटी इन नाइन्टींथ सेंचुरी इंडिया विषय पर शोध कर पीएचडी की उपाधि हासिल की। 1968 में फ्रांस सरकार के निमंत्रण पर पेरिस गए और वहाँ आलियास फ्रांचेज में फ्रैंच भाषा सीखी और उन्होंने पेरिस के सोरबोन विश्वविद्यालय में उस दौर के मशहूर विद्वान रेमो ऑरों के निर्देशन में 'इतिहास लेखन की समस्याएँ' शीर्षक से पोस्ट डॉक्टोरल रिसर्च की।

अपने जीवन और चिंतन में रेमो ऑरों के प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'इतिहास एक जीवनदृष्टि बन सकता है और इतिहास के विद्यार्थी और प्राध्यापक को उसे उत्तरदायित्व समझकर अत्यंत गम्भीरता से लेना चाहिए। इसकी प्रेरणा विश्वविख्यात विचारक और लेखक रेमों ऑरों ने दी। उनके शिष्यत्व में जो कुछ सीखा उसने जीवन को सार्थकता दी है। उनका ऋणी रहूँगा-जीवन भर।

नौजवानों से बात करने की बात पर प्रो. वर्मा जोश से भर जाते थे। वह मई 1968 में पेरिस के विश्वप्रसिद्ध छात्र आंदोलन के बाद सितम्बर माह में पेरिस गए थे। इसी पर लाल बहादुर वर्मा का उपन्यास है 'मई 1968'। फ्रांस में विद्यार्थियों के आंदोलन के हालातों का उन्होंने बहुत गम्भीरता से अध्ययन किया कि कैसे पूरी दुनिया को विद्यार्थी बदल देना चाहते थे। उन्होंने अपने पूरे अध्यापकीय जीवन में इसे याद रखा। विद्यार्थियों पर उनका बहुत भरोसा था। वह मानते थे कि विद्यार्थी ही समाज में वास्तविक बदलाव लाएंगे।

10 जनवरी 1938 को बिहार के छपरा जिले में शंभूनाथ वर्मा और राजदेई (राजदेवी) के घर जन्मे प्रो. लाल बहादुर वर्मा की शुरुआती तालीम आनंदनगर गोरखपुर से

हुई। जीवन की पहली नौकरी उन्होंने बलिया में बतौर अध्यापक शुरू की। 1969 से 1984 तक वह गोरखपुर विवि में बतौर इतिहास के विभागाध्यक्ष पढ़ाते रहे। 1984 से 1990 तक उन्होंने मणिपुर विवि (जेएनयू कैंपस) में इतिहास पढ़ाया।

करीब दो दर्जन पुस्तकों के लेखक प्रो. लाल बहादुर वर्मा ने हिन्दी भाषा में विपुल लेखन किया। उन्होंने अनुवाद, सम्पादन, कथा साहित्य, पेशेवर इतिहास लेखन से लेकर आंदोलनों में बांटे जाने वाले पर्चे भी लिखे। विश्व इतिहास पर लिखी उनकी पुस्तकें जितना इतिहास के विद्यार्थियों के बीच लोकप्रिय थीं, उतनी ही प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी करने वाले छात्रों के बीच भी लोकप्रिय थीं।

वह फ्रांस से 1970 के दशक में भारत आये, जबकि वह आराम से वहाँ भी पढ़ा सकते थे। लू-शुन को पढ़ते हुए उन्होंने हिंदी में ही काम करने का प्रण लिया। गोरखपुर विश्वविद्यालय में आ गये और युवाओं के साथ मिलकर एक नए तरह के समाज के निर्माण के लिए, बौद्धिक, सांस्कृतिक गतिविधियों को आगे बढ़ाते रहे। प्रो. वर्मा जब गोरखपुर विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर थे तो उन दिनों उनके संपादकत्व में निकलने वाली पत्रिका 'भंगिमा' प्रगतिशील सोच के छात्रों, अध्यापकों और लेखकों-कवियों के बीच काफी चर्चित थी। 15 अगस्त 1972 को भंगिमा का पहला अंक आजादी की अवधारणा पर निकला था। इसके अलावा प्रो. वर्मा ने लोकचेतना पत्रिका का सम्पादन भी किया। आपातकाल के दौरान भी वह सांस्कृतिक-राजनीतिक आंदोलनों में काफी सक्रिय रहे और गिरफ्तार होते-होते बचे। सांस्कृतिक आंदोलन को मजबूत करने के लिए उन्होंने कई प्रयास किए। 1978 में उन्होंने मुंशी प्रेमचंद के गाँव लमही में राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चे का गठन किया तो 1984 में सांस्कृतिक आंदोलन की दिशा को लेकर संस्कृति कर्मियों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किया। 1990 में सोवियत संघ के विघटन के बाद उन्होंने मार्क्सवाद बचाओ मंच का गठन किया और एक अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किया। उन्होंने भोपाल
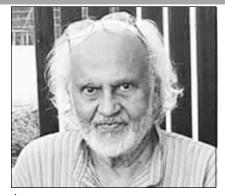
गैस त्रासदी पर 'जिदंगी ने एक दिन कहा' नाटक भी लिखा, जिसे बाद में उपन्यास का रूप दिया। इसी तरह एक राजनीतिक व्यंग्य नाटक 'तबला बाजे-धीन-धीन' भी लिखा। मणिपुर में रहते हुए उत्तर-पूर्व की राष्ट्रीयता की समस्या को लेकर उन्होंने 'उत्तर-पूर्व' नाटक लिखा जिसे बाद में इलाहाबाद में रहते हुए उपन्यास में रूपांतरित कर दिया।

1991 से 1998 तक उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग में अध्यापन किया। इस दौरान उन्होंने इतिहास बोध जैसी लघु पत्रिका शुरू की और उसका संपादन किया। वह कहते थे- 'ऐसे किसी व्यक्ति को इतिहास के अध्यापन और अध्ययन का हक नहीं है जो अपने मूल स्वर में आंदोलनकारी, विचारधर्मी न हो। केवल बैठे रहकर आप बदलाव नहीं ला सकते और तब आप एक मृत इतिहास का अंग होते हैं।' वह कहते थे कि- इतिहास की चिंता यही होनी चाहिए कि वह भविष्य संवारे। कुछ लोग इतिहास से इतने जुड़ जाते हैं कि इतिहास से आबद्ध हो जाते हैं। किसी भी तरह का जाल अच्छा नहीं होता, इसलिए ऐसा ठहरा हुआ इतिहास भी आपको कोई दिशा नहीं दे सकता। यादें हमेशा रूमानी होती हैं, लेकिन आप हमेशा इसी में जी नहीं सकते। अतीतग्रस्त होकर ठहर जाने की स्थिति पाप और अपराध है। 'यूरोप का इतिहास' जैसी इतिहास की उनकी लिखी पुस्तकों को छात्र बहुत ही चाव और प्यार से खरीदते रहे हैं। 'यूरोप का इतिहास' को मेहनतकशों और आम लोगों को समर्पित करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'समर्पित उन्हें जिनकी मेहनत ने इतिहास को गति और दिशा दी है पर जिनका अधिकांश इतिहास पुस्तकों में जिक्र तक नहीं होता।' उन्होंने इतिहास के अकादमिक ग्रंथ लिखने के बजाय पतली, सुन्दर और उत्कृष्ट किताबें सृजित कीं। अकादमिक स्तर पर भी, उन्होंने अफवाहों की भूमिका, मौखिक इतिहास के स्वरूप और प्राविधियों पर भी लिखा।

वे 'इतिहास में जन' से 'जन में इतिहास' की ओर उत्तरोत्तर आगे बढ़ने के हामी थे। जन इतिहास के प्रति उनका गहरा लगाव उनके द्वारा वर्ष 1994 में भारतीय इतिहास काँग्रेस के अलीगढ़ अधिवेशन के 'भारतेतर इतिहास संभाग' में दिए उस भाषण में भी झलकता है, जिसका शीर्षक ही था 'जन के लिए इतिहास: फ्रांसीसी क्रांति पर फ्रांसीसी इतिहास लेखन की एक झलक।'

लाल बहादुर वर्मा की आत्मकथा के दो खण्ड 'जीवन प्रवाह में बहते हुए' और 'बुतपरस्ती मेरा ईमान नहीं' में वे अपनी कमजोरियाँ और सीमाएँ भी बताने का ईमानदार प्रयास करते हैं। यही ईमानदारी और साहस उनके लेखकीय और अकादमिक जीवन की विशिष्ट पहचान रही है।

इतिहास लेखन पर केंद्रित उनकी किताब 'इतिहास के बारे में' पढ़ते हुए हर बार कुछ नई अंर्तदृष्टि मिलती है। यह किताब अतीतग्रस्तता और इतिहासबोध के बीच गहरे अंतर को बड़ी स्पष्टता के साथ पाठकों के समक्ष रखती है। साथ ही, यह किताब इतिहास की प्रासंगिकता और उसकी अर्थवत्ता को गहराई से रेखांकित करती है। इतिहास को सामान्य पाठकों से, आमजन से जोड़ती है। लाल बहादुर वर्मा लिखते हैं कि 'जो समाज का सचेत साक्षात्कार कर रहे हैं, जिन्हें सरोकार है और जो समाज की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हैं। उन्हें 'है' और 'होना चाहिए' के बीच के अंतर और एक से दूसरे तक की यात्रा के महत्व और उसमें निहित कठिनाइयों का एहसास होगा। इसलिए वे इतिहास सम्बन्धी समस्याओं को समझना चाहेंगे ताकि उनका हल ढूंढा जा सके। क्योंकि इतिहास की समस्याओं को समझने और उन्हें हल करने का सवाल स्वयं समाज को समझने और बदलने के सवाल से जुड़ा हुआ है।' वे हमेशा सोचते थे कि हर पढ़ने-लिखने वाले को सस्ती और उत्कृष्ट किताबें और छात्रों को बेहतरीन

पाठ्य-पुस्तकें मिलनी चाहिए।

सामाजिक सांस्कृतिक बदलाव के लिए बेचैन प्रो. वर्मा ने बहती नदी की तरह कभी एक जगह ठहरना नहीं सीखा। 2016 में उन्होंने इलाहाबाद में मेंहदौरी कॉलोनी स्थित अपना मकान बेच दिया और दिल्ली में कुछ दिन रहे फिर देहरादून में एक छोटा-सा मकान खरीदा और वर्तमान में वहीं रह रहे थे। सर्दियों से बचने के लिए वे किसी बेहतर जगह चले जाते थे जैसे केरल। लाल बहादुर वर्मा भारत में जहाँ जाते, अविश्वसनीय रूप से उनको जानने वाले लोग वहाँ जरूर होते, उनके मित्र होते। कोई उनका 'परिचित' नहीं था। जो था, वह उनका 'मित्र' ही होता। उन्होंने एक राजनीतिक और सांस्कृतिक मूल्य के रूप में मित्रता को विकसित किया था। यह उनका कोई सैद्धांतिक आग्रह भर नहीं था बल्कि उन्होंने इसे अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में उतारकर दिखाया था।

इलाहाबाद, गोरखपुर, दिल्ली, देहरादून, मणिपुर सहित भारत के प्रत्येक हिस्से में हजारों लोग ऐसे हैं जो कह सकते हैं कि 'हाँ, लाल बहादुर वर्मा उनके दोस्त हैं।'

मार्च 2019 में यमुना नदी के किनारे इलाहाबाद में एक बड़ा आयोजन हुआ था। बिल्कुल अनौपचारिक विषय था। दोस्ती, जिसमें शरीक थे युवा, किशोर, बच्चे और लाल बहादुर वर्मा की उम्र के लोग। सबने दोस्ती पर बात की।

उन्होंने दोस्ती को भारतीय समाज की जकड़न और उच्चताक्रम को तोड़ने के एक औजार के रूप में देखा। यह कोई अनायास नहीं था कि जब कोई उनसे जुड़ता था तो उसके दोस्त, फिर दोस्तों के दोस्त उनसे जुड़ते चले जाते थे। 'कथन' पत्रिका को दिए एक साक्षात्कार में 'दोस्ती से उनका क्या आशय है,' यह सवाल पूछे जाने पर लाल बहादुर वर्मा ने कहा था कि 'दोस्ती का मतलब कोई पार्टी या संगठन बनाना नहीं है। दोस्ती का मतलब है एक-दूसरे को भला इंसान मानना, एक-दूसरे पर विश्वास और भरोसा करना, एक-दूसरे के दुख-सुख में शामिल होना और धर्म, जाति, पेशे, स्टेटस, विचारधारा, राजनीति, खान-पान, रहन-सहन आदि के तमाम भेद होते हुए भी दोस्ती करना और उसे निभाना। मैं फेसबुक वाली दोस्ती की नहीं, आभासी दुनिया वाली दोस्ती की नहीं वास्तविक दोस्ती की बात कर रहा हूँ। मैं दोस्तों से बाहर ही नहीं मिलता, उनके घर जाकर भी मिलता हूँ, उन्हें अपने घर बुलाकर भी मिलता हूँ मतभेद होते हुए भी मैं उनसे बातें और बहसें करता हूँ। इस तरह मैं और मेरे दोस्त कोई लड़ाई नहीं लड़ रहे हैं, लेकिन मुझे उम्मीद है कि अगर कभी सच और झूठ, न्याय और अन्याय, मानुषिकता और अमानुषिकता के सवाल पर कोई लड़ाई हुई, तो मैं और मेरे दोस्त तमाम मतभेदों के बावजूद सत्य, न्याय और मनुष्यता के पक्ष में खड़े होकर लड़ेंगे, लड़ेंगे और जीतेंगे भी।'
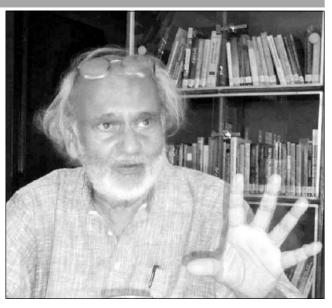
जीवन के अंतिम वर्षों में वह समन्वयवादी हो गए थे। वह हर मुक्ति आंदोलन और उससे जुड़ी शख्सियत की सामाजिक बदलाव में भूमिका से सकारात्मक लेने के पक्ष में थे। संभवत: यही वजह थी कि उनकी गाँधीगिरी बनाम दादागिरी और गुलामगिरी जैसी पुस्तक आई। ●

प्रो. लाल बहादुर वर्मा का रचनाकर्म

यूरोप का इतिहास (दो भागों में), आधुनिक विश्व का इतिहास की झलक (दो भागों में), विक्टर ह्यूगो के विश्व प्रसिद्ध उपन्यास ले मिजेराब्ल का हिंदी अनुवाद विपदा के मारे, हावर्ड फास्ट के चार उपन्यासों वासंती सुबह (अप्रैल मार्निंग), तीन क्रांतियों का प्रवक्ता (सिटीजन टम पैन) अपराजित (अनवैंक्विस्ड) तथा अमरीकन, जैक लंडन के प्रसिद्ध उपन्यास आयरन हील का अनुवाद, आर्थर मारविक की नेचर ऑफ हिस्ट्री और क्रिस हरमन की पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड तथा चेंजिंग वर्ल्ड विदाउट पॉवर का 'चीख' नाम से हिंदी में अनुवाद। बीसवीं सदी के सर्वाधिक मान्य और लोकप्रिय इतिहासकार एरिक हॉब्सबम की इतिहास-श्रृंखला की पुस्तक द एज ऑफ रिवोल्यूशन का अनुवाद किया।

साहित्यिक पत्रिका भंगिमा के संपादन के बाद उन्होंने लोक चेतना पत्रिका व इतिहास बोध त्रैमासिक पत्रिका का संपादन भी किया। सांस्कृतिक मुहिम के लिए आइए, अपने को गंभीरता से लें, मानव मुक्तिकथा, भारत की जनकथा, अधूरी क्रांतियों का इतिहासबोध, क्रांतियाँ तो होंगी ही जैसी दसियों पुस्तक पुस्तिकाओं का लेखन व प्रचार-प्रसार उन्होंने किया। कुछ अरसा पहले उनकी आत्मकथा के दो खंड जीवन प्रवाह में बहते हुए तथा बुतपरस्ती मेरा ईमान नहीं प्रकाशित हुई। हिंदी में उनके तीन मौलिक उपन्यास उत्तर पूर्व, मई अड़सठ, पेरिस और जिंदगी ने एक दिन कहा प्रकाशित हुए और काफी चर्चित हुए। हाल में उनकी दो किताबें गाँधीगिरी बनाम दादागिरी और गुलामगिरी, धरती हमारी माँ-संवेदना और समझ का वैश्विक परिप्रेक्ष्य प्रकाशित हुई थीं। उनकी एक नई किताब 'आजादी का मतलब क्या' की पांडुलिपि तैयार थी और वे अगली किताब फासीवाद पर लिख रहे थे। उन्होंने कई कहानियां भी लिखीं जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हुई तो कुछ अब तक अप्रकाशित हैं। ●

दुधबोलि कुमाउनी को समर्पित मथुरादत्त मठपाल

❑ **हरि मोहन 'मोहन'**

कुमाउनी साहित्यकार, सम्पादक मथुरादत्त मठपाल का लम्बे समय तक न्यूरो सम्बंधी बीमारी से जूझने के बाद गत 9 मई 2021 को रामनगर स्थित आवास पर निधन हो गया। गत मार्च को स्वास्थ्य खराब होने पर उन्हें हल्द्वानी के निजी चिकित्सालय में भर्ती किया गया था जहाँ से वह ठीक होकर घर आ गए थे। उनका जन्म 29 जून 1941 को अल्मोड़ा जिले के ग्राम नौला में हुआ। उनकी माता का नाम श्रीमती कान्तिदेवी और पिता हरिदत्त मठपाल था जो जाने-माने स्वतंत्रता सेनानी थे। मठपाल जी की प्राथमिक शिक्षा गाँव की ही प्राथमिक पाठशाला में हुई। सन् 1951 में कक्षा पाँच उत्तीर्ण करने के पश्चात मानिला मिडिल स्कूल से मिडिल तथा रानीखेत नेशनल हाईस्कूल से 1956 में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके पश्चात मिशन इण्टर कॉलेज रानीखेत से इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे की पढ़ाई के लिए लखनऊ विश्वविद्यालय में बीएससी में प्रवेश लिया।

मगर वहाँ की आबोहवा अनुकूल न होने पर बीमार पड़ जाने के कारण तीन महीने में ही पहाड़ वापस लौट आये। उन्होंने तीन-चार वर्ष तक प्रेम विद्यालय ताड़ीखेत, मानिला हाईस्कूल और एमपी इण्टर कालेज रामनगर में शिक्षण कार्य किया। सन् 1963 में बीए करने के पश्चात अल्मोड़ा महाविद्यालय से बीटी किया। उसके बाद विनायक इण्टर कालेज में नियुक्ति हुई। इसी बीच उन्होंने इतिहास, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा राजनीति शास्त्र तीन विषयों में एमए की उपाधि भी प्राप्त की। राजकीय इण्टर कालेज विनायक, भिकियासैंण (अल्मोड़ा) में 33 वर्ष तक शिक्षण कार्य करने के बाद इतिहास के प्रवक्ता पद से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर रामनगर में रहते हुए कुमाउनी साहित्य साधना में लग गये।

मठपाल जी 1985 से अनवरत रूप से कुमाउनी में कविता लेखन करते रहे। उन्होंने कुमाउनी भाषा में संस्कृत के अनेक छन्दों को आधार बनाकर काव्य रचना की। इनकी रचनाओं में हरिगीतिका, कवित्त, सवैया, मत्तगयन्द, मल्लिका, वाम (मकरन्द), किरीट सुन्दरी आदि छन्दों का कुमाउनीकरण आसानी से देखा जा सकता है। वे कुमाउनी के साथ ही हिन्दी में भी रचनाकर्म करते रहे। उनकी पहली रचना हिन्दी में ग्वेल देवता पर लिखी गई कविता थी। स्वयं के लेखन के साथ ही अन्य कुमाउनी कवियों की रचनाओं को प्रकाश में लाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सन् 1986 में कुमाउनी के तीन श्रेष्ठ कवियों शेर सिंह बिष्ट 'अनपढ़', गोपालदत्त भट्ट व हीरासिंह राणा की कविताओं को हिन्दी अनुवाद के साथ 'अनपढ़ी', 'गोमती गगास', 'हम पीर लुकाते रहे' के नाम से प्रकाशित किया। मठपाल जी के 1990 से 2000 तक पाँच कुमाउनी कविता संग्रह आङ् आङ् चिचौल हैगो, पे मैं क्याप्प- क्याप्प कै भेटुनू, फिर प्योलि हँसै, मनख-सतसई तथा रामनाम भौत ठुल प्रकाशित हुए।

कुमाउनी कवि कृपालदत्त जोशी के पुत्र पूरनचद्र जोशी से प्राप्त उनके रचनाकर्म का 'मूक-गीत' नाम से संकलन, सम्पादन के साथ ही प्रकाशन भी किया। अवधूत शिरोमणि बाबा कल्याणदास जी महाराज की आत्मकथा 'साधना यात्रा' का और हिमवन्त कवि चन्द्र कुँवर बर्त्वाल की 80 कविताओं का कुमाउनी में अनुवाद 'था मेरा घर भी यहीं कहीं' नाम से किया। जुगल किशोर पेटशाली संकलित कुमाउनी की प्राय: 80 वर्ष पूर्व की सौ होलियों का 'गोरी प्यारो लागे तेरो झन्कारो' नाम से, कवि केदार सिंह कुंजवाल व बंशीधर पाठक 'जिज्ञासु' के हिन्दी काव्य संकलन 'बादलों की गोद से' व 'मुझको प्यारे पर्वत सारे' का प्रकाशन भी किया।

मठपाल जी सन् 2000 से 'दुदबोलि' नाम की कुमाउनी भाषा की पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन कर रहे थे। प्रारम्भ में त्रैमासिक निकलने वाली इस पत्रिका को बाद में 2006 से वृहद पुस्तकाकार में वार्षिक कर दिया गया था। दुधबोलि का आखिरी अंक सन् 2013-14 का था, जो 2017 में प्रकाशित हुआ। दुधबोलि के वार्षिकांक का 9वाँ अंक प्रेस में है। लगभग 350 पृष्ठों की पत्रिका में कुमाउनी कविताओं के साथ ही गद्य विधा की रचनाओं को भी प्रकाशन का अवसर मिलता रहा। कुमाउनी रचनाकारों की रचनायें प्रकाशित करने के साथ ही लुप्तप्राय कुमाउनी रचनाओं और रचनाकारों को सम्मुख लाने में भी 'दुदबोलि' की महत्वपूर्ण भूमिका रही। मठपाल जी जिस नि:स्वार्थभाव से अपनी पेंशन से 'दुदबोलि' का प्रकाशन करते रहे, ऐसा कोई 'घर फूँक तमाशा देखने' वाला ही कर सकता था। पिछले वर्ष ही उन्होंने कुमाउनी के सौ वर्षों की सौ कहानियों का सम्पादन किया था। जो 'कौ सुआ काथ कौ' के नाम से समय साक्ष्य प्रकाशन देहरादून ने प्रकाशित किया था।

मठपाल जी को समय-समय पर विभिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत किया गया जिनमें 1988 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ द्वारा 'सुमित्रानन्दन पन्त नामित पुरस्कार', 2011 में उत्तराखण्ड भाषा संस्थान द्वारा 'डॉ. गोविन्द चातक सम्मान', 2012 में 'शैलवाणी पुरस्कार' तथा 2014 में चारुचन्द्र पाण्डे जी के साथ साहित्य अकादमी का अति महत्वपूर्ण 'भाषा सम्मान' प्राप्त हुआ। 2015 में कुमाउनी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति प्रचार समिति अल्मोड़ा द्वारा उन्हें शेरसिंह बिष्ट 'अनपढ़' कुमाउनी कविता पुरस्कार प्रदान किया गया।

कुमाउनी भाषा को संविधान की आठवीं अनसूचि में शामिल किये जाने की माँग लम्बे समय से की जा रही है। इसके लिए पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित कुमाउनी साहित्य की आवश्यकता है। मठपाल जी द्वारा कुमाउनी भाषा के लिए किया गया कार्य इसमें अवश्य ही मददगार बनेगा। ●

वीरेनदा से प्रभावित होकर पत्रकारिता में आए दिवाकर भट्ट

❑ **जगमोहन रौतेला**

पिछले डेढ़-दो महीने से एक ऐसा भयावह व चिंताजनक दौर चल रहा है जब हर रोज कहीं न कहीं से अपने प्रियजनों के असमय काल-कलवित होने की खबरें आ रही हैं। गत 17 मई 2021 की देर रात लगभग साढ़े नौ बजे साहित्यिक पत्रिका आधारशिला के चर्चित सम्पादक दिवाकर भट्ट के भी लगभग एक महीने अस्पताल में भर्ती रहने के बाद अनन्त यात्रा पर चले जाने का पीड़ादायक समाचार मिला। देर रात को मिली इस खबर को जिसने भी सुना, उसे विश्वास ही नहीं हुआ। विश्वास होता भी कैसे? क्योंकि तीन-चार दिन पहले ही उनके कोविड-19 के संक्रमण से मुक्त होने की खबर लोगों को मिली थी, जिसके बाद साहित्य व संस्कृति जगत के सभी लोगों को विश्वास हो चला था कि दिवाकर भट्ट शीघ्र ही स्वस्थ होकर हम सब के बीच होंगे और अपनी अनवरत चलने वाली साहित्य की गतिविधियों से हिन्दी साहित्य समाज को लाभान्वित करेंगे। पर काल की नियति को यह मंजूर नहीं था।

कोविड के संक्रमण से मुक्त होने के बाद दिवाकर भट्ट को साँस लेने में परेशानी हो रही थी। इसी कारण उन्हें अस्पताल से घर नहीं भेजा गया था। संक्रमित होने के बाद भट्ट को गत 18 अप्रैल 2021 को हल्द्वानी के निजी चिकित्सालय नीलकंठ में भर्ती किया था, जहाँ लगातार उपचार के बाद उनके स्वास्थ्य में सुधार हुआ और उन्हें एक बार आईसीयू से सामान्य वार्ड में भर्ती कर लिया गया था। उनके स्वास्थ्य पर महाराष्ट्र के राज्यपाल भगत सिंह कोश्यारी अपने ओएसडी धुव्र रौतेला के माध्यय से लगातार नजर बनाए हुए थे। दिवाकर के स्वास्थ्य को लेकर कोश्यारी नीलकंठ अस्पताल के निदेशक डॉ. गौरव सिंघल के भी सम्पर्क में थे और उन्हें कहा गया कि अगर उन्हें हायर सेंटर ले जाने की आवश्यकता होगी तो इस बारे में तुरन्त सूचित किया जाय, ताकि भट्ट को हायर सेन्टर ले जाया जा सके। वरिष्ठ कथाकार गम्भीर सिंह पालनी ने गत 16 मई को अपनी फेसबुक वॉल पर दिवाकर भट्ट के स्वास्थ्य के बारे में जानकारी देते हुए लिखा था कि 'आधारशिला' पत्रिका के सम्पादक दिनेश भट्ट 'दिवाकर' के कोरोनाग्रस्त होने के कारण हल्द्वानी के नीलकंठ हॉस्पिटल में भर्ती होने की जानकारी राजा खुगशाल जी की पोस्ट से 4 दिन पूर्व मिली थी। उसके बाद मैंने उनके पुत्र कुशाग्र भट्ट का मोबाइल नम्बर प्राप्त कर उस से बात कर के दिवाकर भट्ट के स्वास्थ्य के बारे में जानकारी ली थी। कुशाग्र ने बतलाया था कि दिवाकर जी को अब कोरोना तो नहीं है, लेकिन उन्हें हॉस्पिटल के ही प्राइवेट वार्ड में शिफ्ट कर दिया गया है। उन्हें साँस लेने में तकलीफ बनी हुई है। आज शाम को कुशाग्र को पुनः फोन करने पर उन्होंने बतलाया कि अभी दिवाकर जी के स्वास्थ्य में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है।

उसके बाद 17 मई 2021 को उनका स्वास्थ्य अचानक से काफी बिगड़ गया और उन्हें फिर से आईसीयू में भर्ती करना पड़ा जहाँ रात लगभग साढ़े नौ बजे उन्होंने अंतिम साँस ली। पिछले लगभग तीन दशक से अपना जीवन हिन्दी के उन्नयन के लिए समर्पित कर देने वाले दिवाकर भट्ट हल्द्वानी में पीलीकोठी रोड में ऑफिसर्स इन्क्लेव में रहते थे। उनका जन्म एक जुलाई 1963 को बागेश्वर जिले के कांडा क्षेत्र के पटाडुंगरी गाँव में हुआ था। उनकी माँ का नाम गंगोत्तरी भट्ट और पिता का नाम गोपाल दत्त भट्ट था। वे अपने माता-पिता की अकेली संतान थे। जब दिवाकर मात्र 6 साल के अबोध बालक थे, तब उनके पिता का आकस्मिक निधन हो गया। इसी कारण उनकी पढ़ाई चाचा बीडी भट्ट के सानिध्य में हुई, जो शक्ति फार्म राजकीय इंटर कॉलेज में अध्यापक थे। अपने चाचा के सानिध्य में ही उन्होंने राजकीय इंटरमीडिएट कालेज शक्तिफार्म (ऊधमसिंहनगर-तब नैनीताल) से 1977 में हाई स्कूल और 1979 में इंटर किया।

दिवाकर भट्ट को उच्च शिक्षा प्राप्त कर जीवन में कुछ करने की धुन सवार थी। तब हल्द्वानी में उच्च शिक्षा के लिए पीजी कॉलेज तो था, पर प्रतियोगी परीक्षा के हिसाब से अनुकूल माहौल नहीं था। इस कारण दिवाकर ने बरेली जाकर पढ़ने और साथ ही प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी करने की बात घर में कही तो उनके चाचा बीडी भट्ट ने सहर्ष अनुमति दे दी। इसके बाद दिवाकर किराए के कमरे में रहकर बरेली कॉलेज बरेली में पढ़ने लगे और साथ ही प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी भी करने लगे। उन्होंने बरेली कॉलेज से 1981 में बीए और 1983 में एमए की उपाधि ली। उसके बाद बैंक परीक्षा पास कर के वह 1984 में ग्रामीण बैंक के फील्ड ऑफीसर के पद पर नियुक्त हुए और उन्होंने 1990 तक बैंक की नौकरी की। बरेली कॉलेज में पढ़ने के दौरान ही वहाँ प्राध्यापक वीरेन

डंगवाल से उनकी मुलाकात हुई और साहित्य में अभिरुचि रखने वाले दिवाकर को वीरेन दा ने बहुत प्रभावित किया। वीरेन दा की कविताएँ और उनकी बातों से गुरु-शिष्य की जोड़ी कब मित्रता में बदल गई उन्हें पता ही नहीं चला। यह वीरेन दा की संगत का ही असर था कि भट्ट का मन बैंक की नौकरी में ज्यादा नहीं लगा। इस बीच वह अमर उजाला के लिए लिखने भी लगे थे। वीरेन दा अमर उजाला में तब साहित्य सम्पादक भी थे, पर पत्रकारिता में भी पूरा दखल रखते थे। साथ ही उत्तराखण्ड के लिखने-पढ़ने वाले ऊर्जावान युवाओं को पत्रकारिता के लिए प्रेरित भी करते थे। वीरेन दा की प्रेरणा से ही दिवाकर ने बैंक की नौकरी से त्यागपत्र देकर 1990 से पत्रकारिता शुरू की। पत्रकारिता की शुरुआत अमर उजाला में रानीखेत से की।

दिवाकर का वीरेन दा के साथ बना आत्मीय सम्बन्ध आजीवन बना रहा। वीरेन दा की 2015 में कैंसर से हुई मौत के बाद दिवाकर ने 2017 में उनको भावपूर्ण श्रद्धांजलि के तौर पर आधारशिला का 166 पेज का विशेष अंक 'वीरेन डंगवाल: मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश' नाम से निकाला जिसके अतिथि सम्पादक वाचस्पति थे। यह अंक वीरेनदा के जीवन के हर पहलू को सामने रखता है। एक तरह से यह भी कह सकते हैं कि आधारशिला का यह अंक वीरेनदा के व्यक्तित्व को समझने और जानने का खजाना है। इसी अंक में वीरेनदा के बारे में अपने सम्पादकीय में दिवाकर लिखते है, 'वीरेनदा के व्यक्तित्व व रचना कर्म पर केन्द्रित 'आधारशिला' का यह अंक उनकी उस विरल शख्सियत को गुनने का एक उपक्रम इस अर्थ में है कि वह सबके बीच सखा भाव में रहते हुए भी हर एक के लिए विशिष्ट थे। एक साफ सुथरा, पारदर्शी जलबिंब सा उनका जीवन, जिंदगी को सही मकसद से जीने की प्रेरणा देता रहा है। वह एक प्राध्यापक, कवि-सम्पादक के रूप में इतने सहज और सकल ज्ञान से सम्पन्न थे कि आप में कुछ जानने की पात्रता हो तो जीवन की तमीज में पीछे न रहें।

वीरेनदा की कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद उनके निकटतम साथी कवि व ब्लॉगर अशोक पान्डे ने 'Its been long since I found any thing' शीर्षक से किया तो इस पुस्तक को दिवाकर ने ही 2004 में आधारशिला प्रकाशन-हल्द्वानी से प्रकाशित किया।

वरिष्ठ पत्रकार महेश पान्डे और लेखक के साथ दिवाकर भट्ट

साहित्यिक अभिरुचि के कारण बैंक में नौकरी लगते ही दिवाकर ने आधारशिला पत्रिका का प्रकाशन और सम्पादन प्रारम्भ कर दिया था। वह विगत 36 वर्षों से हिन्दी की साहित्यिक पत्रिका आधारशिला का प्रकाशन और सम्पादन कर रहे थे। साथ ही वह अमर उजाला में रानीखेत, अल्मोड़ा व हल्द्वानी में संवाददाता और सम्पादकीय पदों पर भी रहे। अमर उजाला के अलावा उन्होंने दैनिक जागरण और पीटीआई के लिए भी पत्रकारिता की। उन्होंने विश्व हिन्दी अभियान के तहत 2004 से 25 से अधिक देशों की यात्राएँ की और वहाँ पर विश्व हिन्दी सम्मेलनों का आयोजन करवाया, जिनमें भारत के साथ ही विभिन्न देशों के हिन्दी के विद्वान भाग लेते थे। पिछले दो दशकों से दिवाकर हिंदी भाषा को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनाने के एकल अभियान में जुटे हुए थे। अपने इसी अभियान को लेकर भट्ट ने मॉरीशस, हंगरी, नीदरलैंड, थाईलैंड, सिंगापुर, श्रीलंका, इंग्लैंड, वियतनाम, उज्बेकिस्तान, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, हॉलैंड, जर्मनी जैसे देशों में हिंदी सम्मेलनों का आयोजन किया और हिंदी से प्रवासियों के साथ ही इन देशों के निवासियों को भी जोड़ने का महत्वपूर्ण काम किया।

दिवाकर भट्ट ने प्रसिद्ध चित्रकार हरिपाल त्यागी के कला कर्म पर चर्चित पुस्तक 'हरिपाल त्यागी: कला-सृजन एवं विवेचन' और 'बल्लभ डोभाल होने के मायने' पुस्तक का भी सम्पादन किया था। उन्होंने आधारशिला पत्रिका के इतिहास में महादेवी वर्मा, पंजाबी युवा कथा विशेषांक, हरिपाल त्यागी की कला के मायने, वामिक जौनपुरी अंक, गजल विशेषांक, पानू खोलिया का कथा संसार, विश्व कविता पर दो विशेषांक, तेलगु साहित्य पर दो विशेषांक और गत जनवरी 2021 में मंगलेश डबराल अंकों का विशेष तौर पर सम्पादन किया, जो बहुत ही चर्चित होने के साथ ही संग्रहणीय भी रहे। इसके अलावा उन्होंने आधारशिला प्रकाशन से देश व विदेश के कवियों, लेखकों, कथाकारों की तीन दर्जन से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन भी किया।

हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में उनके उल्लेखनीय योगदान के लिए उन्हें राहुल सांकृत्यायन सम्मान, पं. मदन मोहन मालवीय पत्रकारिता सम्मान, साहित्य गौरव सम्मान, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सम्मान, साहित्य श्री सम्मान, विद्या वाचस्पति, विश्व हिन्दी अग्रदूत सम्मान आदि से विभिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया गया था। हिन्दी भाषा व साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए भट्ट ने हल्द्वानी में उत्तराखण्ड अध्ययन केन्द्र की स्थापना भी की थी, जिसमें 10 हजार से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ और विभिन्न लेखकों की पुस्तकों का संग्रह है। वह आधारशिला फाउंडेशन के अध्यक्ष भी थे। दिवाकर अपने पीछे पत्नी पुष्पा भट्ट, बेटी आकांशा और बेटे कुशाग्र को शोकाकुल छोड़ गए हैं। ●

प्रख्यात भूगोलवेत्ता: प्रो. रघुवीर चंद

❑ डॉ. बी.आर. पंत

यह दौर बहुत पीड़ादायक है। कब कहाँ से किसी प्रियजन के अचानक से अनन्त यात्रा पर चले जाने की खबर आ जाय इस बात की हमेशा आशंका बनी रहती है। प्रख्यात भूगोलवेत्ता और कुमाऊँ विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग के अध्यक्ष रहे प्रो. रघुवीर चंद का कैंसर के कारण गत 27 मार्च 2021 को नैनीताल में निधन हो गया। वे पाँच साल पहले 2016 में कैंसर से ग्रसित हुए थे। बेहतर इलाज के बाद एक साल के अन्दर उससे उबर भी चुके थे और अध्यापन व लेखन की दुनिया में फिर से सक्रिय हो गए थे। लगभग तीन साल तक ठीक रहने के बाद गत वर्ष कैंसर ने फिर से उन पर हमला कर दिया। पर इस बार वे उससे छुटकारा नहीं पा सके और पत्नी मीरा चंद और दो बेटियों अदिति व सुदिति का साथ हमेशा के लिए छोड़ गए। उनके निधन से उत्तराखण्ड ही नहीं, अपितु देश ने भूगोल का एक उच्चकोटि का अध्येता खो दिया।

भूगोलवेत्ता प्रो. रघुवीर चंद का जन्म पिथौरागढ़ जनपद के सेरी गाँव में 24 दिसम्बर 1957 को हुआ था। उनकी माँ धना देवी व पिता लच्छी चंद बहुत ही सरल व प्रबुद्ध थे। गाँव के प्रधान रहे लच्छी चंद पढ़ाई के महत्व को बहुत अच्छी तरह से जानते थे। इसी कारण उन्होंने अपने बेटे रघुवीर को उच्च शिक्षा के लिए हमेशा प्रेरित किया। रघुवीर चंद की बेसिक व मिडिल की शिक्षा रोड़ापाली स्कूल में हुई। हाई स्कूल देवलथल से और इंटर पिथौरागढ़ से किया। वहीं से 1974 में बीए और 1976 में भूगोल से एमए की उपाधि ली। पिथौरागढ़ पीजी कॉलेज में पढ़ाई के दौरान उन्हें डॉ. भगवती प्रसाद मैठानी व डॉ. कमलेश कुमार जैसे उच्चकोटि के अध्यापकों का सानिध्य मिला। उनकी प्रेरणा से ही उन्होंने भूगोल में ही शोध करने के बारे में निर्णय किया। उस समय डॉ. महेश्वर प्रसाद करन जैसे मानव भूगोल के प्रख्यात विद्वान भी कार्यरत थे।

महेश्वर प्रसाद के निर्देशन में रघुवीर ने पिथौरागढ़ जनपद के ग्रामीण अधिवासों के प्रतिरूपों पर अध्ययन प्रारम्भ किया। शोध के दौरान ही 1977 में उन्हें मेरठ विश्वविद्यालय के किसी कॉलेज व पौड़ी कॉलेज से अध्यापन का आमन्त्रण मिला। उन्होंने मेरठ जाने की बजाय पौड़ी का चुनाव किया। एक साल बाद 1978 में उनकी नियुक्ति कुमाऊँ विश्वविद्यालय के डीएसबी परिसर नैनीताल में हो गई। वहाँ वे डीन कला संकाय व भूगोल के विभागाध्यक्ष रहे। अध्यापन के दौरान उन्होंने 1981 में अपना शोध कार्य पूरा किया। इसी दौरान डॉ. गौतम भट्टाचार्य व डॉ. रमेश तड़ागी जैसे मेहनती शोध छात्र के साथ मिलकर भूगोल की नई-नई संकल्पनाओं पर कार्य किया। डॉ. महावीर चंद के सहयोग से जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के प्रो. एमएच कुरैशी, प्रो. मूनीश रजा, प्रो. पुष्पेश पंत जैसे विद्वानों का मार्गगदर्शन उन्हें हमेशा मिलता रहा। उनका शोध प्रबंध तो उत्तराखण्ड के भोटान्तिक क्षेत्र पर था, परन्तु धीरे-धीरे उनके कार्य का विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो गया।

अपने शोध कार्यों व शोध पत्रों को पढ़ने के लिए जापान, अमेरिका, कनाडा, रूस, अर्जेन्टीना आदि देशों की यात्रा उन्होंने की। इन विदेश यात्राओं के अनुभव के बाद उन्होंने 2011 में अन्तरराष्ट्रीय भूगोल संघ (आईजीयू) की एक संगोष्ठी का आयोजन किया। वे संघ के सक्रिय सदस्य थे जिसमें विश्व के लगभग 40 देशों के विद्वानों ने भागीदारी की। संगोष्ठी में पढ़े गए शोध पत्रों को स्विटजरलैंड के प्रतिष्ठित संस्थान स्प्रिंगर ने दो भागों में प्रकाशित किया। वे लगभग 5 वर्षों के लिए भूटान में भी पढ़ाने गए। पहले भूटान के सेबत्से कॉलेज (कांगलुंग) और बाद में जब यह कैंपस के तौर पर रॉयल भूटान यूनिवर्सिटी का हिस्सा बन गया था। इन वर्षों में उन्होंने भूटान के समाज व संस्कृति को बहुत गहराई से समझा और कई शोध पत्र लिखे। 'पहाड़' संस्था ने उनकी 'हिडन हाइलैण्डर्स ऑफ भूटान' पुस्तक भी प्रकाशित की।

जीवन के अंतिम दिनों में उनकी किताब 'अंतिम संग्रीला की धरती पर' का पहला

खण्ड रजा फाउंडेशन से छपकर आ गया था। इसके दो खण्ड और प्रकाशित होने हैं। दक्षिणी अमेरिका और रेड इंडियनों के बारे में उन्होंने जो शोध किया, वह भी अभी किताब के तौर पर प्रकाशित होना है। उनके यात्रा संस्मरणों की एक किताब भी शीघ्र प्रकाशित होने वाली है। कैंसर से आखिरी लड़ाई के वक्त भी उनकी चिंता अपने स्वास्थ्य को लेकर कम, बल्कि इन किताबों के किसी भी तरह से प्रकाशित होने को लेकर अधिक होती थी। वे एक बेहद संवेदनशील कवि भी थे। अपने जीवन अनुभवों व यात्रा वृतान्तों के आधार पर रघुवीर दा ने कुछ कहानियाँ भी लिखी। उनके शोध पत्र और लेख जहाँ प्रकाशित होते रहे, वहीं कहानी व कविताओं के प्रकाशन में उनकी रुचि कम थी। इनका भी एक संग्रह के तौर पर प्रकाशित होना बहुत जरूरी है।

उत्तराखण्ड के 200 वर्षों के जनांकिकी के आँकड़ों पर विस्तृत शोध पर आधारित उनकी पुस्तक 'उत्तराखण्ड की जनसंख्या का बदलता परिदृश्य' (जो डॉ. बीआर पन्त और भूपेन्द्र मेहता के साथ लिखी गई है) शीघ्र प्रकाशित होने वाली है। उन्होंने केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'भौगोलिक शब्दावली' का सम्पादन भी किया। कुमाऊँ विश्वविद्यालय के डीएसबी परिसर नैनीताल में भूगोल विभाग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने 'पंडित नैन सिंह स्मारक व्याख्यानमाला' की शुरूआत की, जिसमें विख्यात अध्येताओं द्वारा व्याख्यान दिए गए। विभागाध्यक्ष होने के कारण रघुवीर दा ने पंडित नैनसिंह के कार्यों को प्रयोगात्मक

पाठ्यक्रम में रखा, क्योंकि पंडित नैनसिंह के सर्वे के क्षेत्र में किए गए ऐतिहासिक योगदान से नई पीढ़ी बिल्कुल भी अपरिचित थी। भारत और अमेरिका के जनजातीय क्षेत्रों में होने वाले पर्यटन के अध्ययन के लिए इंडो अमेरिकन टीम के वे सदस्य रहे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा पर्यावरण एवं वन मन्त्रालय के सहयोग से कई शोध कार्य भी उन्होंने किए।

उनकी दो बेटियाँ हैं और दोनों ही कैंसर जैसे रोग के खिलाफ लड़ाई में अपने पिता के साथ हमेशा भावनात्मक व दूसरे तरीकों से खड़ी रही हैं। उनकी पत्नी मीरा चंद उनके पीछे खड़ी न होती तो रघुवीर दा प्रख्यात भूगोलवेत्ता न होते, जिससे उनमें भी जीवन की ऊर्जा का संचार होता रहा। पिता व बेटियों के बीच भावनात्मक लगाव की इसी मजबूत कड़ी के कारण ही जब उनके अंतिम संस्कार की तैयारी हो रही थी तो बेटियों अदिति व सुदिति ने कहा कि वही उन्हें मुखाग्नि देंगीं। उन्होंने कहा कि पापा ने तो कभी उन्हें समाज के बने बनाए ढर्रे के आधार पर उन्हें 'बेटा' बनाने की कोई कोशिश नहीं की और न कभी इस तरह का अहसास ही होने दिया। बेटियों के इस निश्चय के बाद किसी परिजन ने किन्तु-परन्तु का कोई सवाल नहीं उठाया और छोटी बेटी सुदिति ने ही अपने पिता की पार्थिव देह को मुखाग्नि दी। उसके बाद उसने अपने चाचा और चचेरे भाई के सहयोग से क्रिया के लिए 'कोड़े पर बैठने' की परम्परा पूरी की।

रघुवीर दा ने दुनिया की लगभग सभी प्रसिद्ध पर्वत श्रृंखलाएँ देखी थी, लेकिन वे आल्प्स नहीं देख पाए थे। कभी उन्होंने बिटिया सुदिति को आल्प्स दिखाने के बारे में कहा होगा। बीमार हो जाने के कारण उनके जीते जी तो यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी, पर उनके अस्थियों के अवशेषों को बिटिया ने आल्प्स में विसर्जित करने के लिए रख लिया था। यह घटना बताती है कि उनका पहाड़ों से किस कदर प्रेम था और वे पहाड़ों पर केवल घूमने के लिए नहीं, अपितु उसके भूगोल के गहन अध्ययन के लिए जाते थे। रघुवीर दा भले ही अब हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनके अप्रकाशित लेख व शोध पत्र हमारी बहुमूल्य धरोहर हैं। उनका प्रकाशित होना बहुत आवश्यक है।

अलास्का में प्रोफेसर फिंच के साथ रघुवीर चन्द

नैनीताल की पहाड़ संस्था का कोई भी कार्यक्रम बिना उनके पूरा नहीं होता था। वे 1980 से ही पहाड़ के आजीवन सक्रिय सदस्य रहे। पहाड़ के कार्यक्रमों में यात्रा वृतान्तों पर आधारित स्लाइड शो एक अनिवार्य हिस्सा होता था। रघुवीर दा बेहद मृदुभाषी, सम्वेदनशील व सहिष्णु व्यक्तित्व वाले थे। उन्होंने कभी किसी की आलोचना नहीं की और न कभी किसी से कोई शिकायत ही उन्हें रही। वे केवल अपने काम से मतलब रखते थे। उनका और मेरा लगभग 40 साल का आत्मीय सम्बंध रहा। वे हमेशा कुछ नया लिखने-पढ़ने और शोध के लिए प्रेरित करते रहते थे। उनके चले जाने से अब कौन प्रेरित करेगा? एक नेक अध्येता रघुवीर दा को भावपूर्ण अंतिम नमन! ●

श्री सुन्दरलाल बहुगुणा के कुछ प्रेरणाप्रद वक्तव्य

❒ प्रताप सिंह बिष्ट 'संघर्ष'

सत्ता व वैभव: सत्ता व वैभव कुछ ही दिन दिखता है। यदि सत्ता व वैभव की जीत होती तो रावण की विजय होती। राम ने सत्य का मार्ग अपनाया व सामान्य व्यक्ति का जीवन जिया, इसलिए विजय हासिल की।

पुण्य व पुरुषार्थ: संचित पुण्य यदि फिर न अर्जित हो रहा हो तो धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है। पुरुषार्थ लगातार करते रहना चाहिए, यदि पुरुषार्थ में नयापन न हो तो वह ज्यादा समय तक नहीं चलता।

अनुभव बाँटना: मुझे जो प्रसिद्धि मिली है, यदि वह बाँटने की वस्तु होती तो मैं उसे भी बाँट देता, परन्तु मैं खासकर, युवा पीढ़ी को अपने संघर्षशील सार्वजनिक क्षेत्र के अनुभवों को बाँटना चाहता हूँ।

सुमन जी से समाज सेवा का वायदा: जब मैं 13 वर्ष का था, तब सुमन जी ने मुझसे प्रश्न किया था, कि तुम जीवन में क्या करोगे? मैंने उत्तर दिया- मैं राजकीय सेवा के साथ-साथ गरीबों व दलितों की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दूँगा। सुमन जी ने कहा- इसमें विरोधाभास है, दोनों काम साथ-साथ नहीं हो सकते, तो मैंने कहा- मैं समाज सेवा का ही क्षेत्र चुनूंगा। लाहौर से स्नातक करने के उपरान्त मैंने राजकीय सेवा नहीं की व समुन जी से किया वायदा निभाया।

माँ गंगा एवं प्रकृति: मैं माँ गंगा को अनमोल सम्पत्ति मानता हूँ। उपवास में मैं गंगाजल पीकर व इसमें नहाकर अपने को स्वस्थ महसूस करता हूँ। मैं प्रकृति का हिस्सा हूँ। यह संसार हमें जैसा मिला है, हम इसे और अच्छा रूप देकर जाएं। ●

कुमाउनी-हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया प्रो. शेर सिंह बिष्ट ने

❑ जगमोहन रौतेला

हिन्दी व कुमाउनी के मूर्धन्य विद्वान, समीक्षक, आलोचक, कवि व लेखक प्रो. शेर सिंह बिष्ट का हल्द्वानी के सुशीला तिवारी मेडिकल कॉलेज में कोविड-19 के संक्रमण से गत 19 अप्रैल 2021को तड़के लगभग 3 बजे निधन हो गया। उनके परिवार जनों के अनुसार, बुखार की शिकायत होने पर उन्हें गत 17 अप्रैल को मेडिकल कॉलेज में भर्ती किया गया जहाँ 18 अप्रैल की देर रात को उनकी तबीयत तेजी के साथ बिगड़ने लगी। उन्हें बचाने के डॉक्टरों के सारे प्रयास विफल हुए और तड़के लगभग तीन बजे उन्होंने आखिरी साँस ली।

हिन्दी व कुमाउनी में भाषा, आलोचना, निबन्ध, कविता आदि विधाओं में चार दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखने वाले प्रो. शेर सिंह बिष्ट का जन्म 10 मार्च 1953 को अल्मोड़ा जिले के डुंगरा (भनोली) गाँव में हुआ। उनकी माँ का नाम उर्मिला बिष्ट व पिता का नाम नरसिंह बिष्ट था। उन्होंने हाई स्कूल ज्ञानोदय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय भनोली से और इंटरमीडिएट सर्वोदय इंटर कालेज जैंती से किया। उसके बाद वे उच्च शिक्षा के लिए अल्मोड़ा चले गए और राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अल्मोड़ा से प्रथम श्रेणी में बीए किया। तब अल्मोड़ा महाविद्यालय आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आता था। उसके बाद कुमाऊँ विश्वविद्यालय का गठन हो जाने पर शेर सिंह बिष्ट ने नैनीताल से 1976 में हिन्दी में प्रथम श्रेणी में एमए ही नहीं किया, बल्कि प्रथम स्थान प्राप्त कर स्वर्ण पदक भी प्राप्त किया, जिसके बाद उन्हें 1976 में डीएसबी कॉलेज में ही प्राध्यापक की तदर्थ नौकरी मिल गई। उसके दो साल बाद 1979 में वह स्थाई प्रवक्ता बने। अल्मोड़ा में कुमाऊँ विश्वविद्यालय का परिसर 1982-83 में बनने के बाद उनका स्थानान्तरण हिन्दी विभाग में ही कुमाऊँ विश्वविद्यालय के अल्मोड़ा परिसर में हो गया। इससे पहले बिष्ट ने 1980 में 'हिन्दी में कृष्ण काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' पर पीएचडी की उपाधि प्राप्त कर ली थी। उसके बाद भी अध्ययनशील बिष्ट ने अपना शोध कार्य जारी रखा और 'सुमित्रानन्दन पंत के साहित्य का ध्वनिवादी अध्ययन' विषय पर 1988 में डीलिट् की उपाधि भी कुमाऊँ विश्वविद्यालय से प्राप्त की।

इस बीच 1978 में बिमला के साथ उनका विवाह हुआ। प्रो. बिष्ट के दो पुत्र पृथ्वीराज सिंह और आदित्य प्रताप सिंह हैं। हिन्दी व कुमाउनी की विभिन्न विधाओं में उनकी 47 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं जिनमें 37 पुस्तकें मौलिक व 10 पुस्तकें सम्पादित हैं। इनमें 5 पुस्तकें कुमाउनी में लिखी गई हैं। उनकी लिखी पुस्तकों में साहित्य और आलोचना, वैष्णव धर्म सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्त और कृष्ण भक्ति काव्य, सुमित्रा नन्दन पंत के साहित्य का ध्वनिवादी अध्ययन, समीक्षा की कसौटी पर, युगबोध का साहित्य, साहित्य और संस्कृति: चिंतन के नए आयाम, मध्य हिमालयी समाज -संस्कृति एवं पर्यावरण, हिन्दी भाषा और साहित्य: एक अन्तर्यात्रा, मेरा रचना संसार: पहचान और परख, पर्यावरण एवं भारतीय संस्कृति, पंत साहित्य और गाँधीवाद, स्वामी विवेकानन्द और भगवान गौतम बुद्ध, शब्द के विरुद्ध, युग सत्य, उत्तरांचल: भाषा एवं साहित्य का सन्दर्भ, भारत माता, नाटककार गोविन्द बल्लभ पंत आदि प्रमुख हैं। उनकी कुमाऊँ हिमालय पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित हुई है। उनका 'हिन्दी-कुमाउनी-अंग्रेजी' शब्दकोष बहुत चर्चित रहा है। कुमाउनी भाषा के विकास में इस शब्दकोष की भूमिका को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस शब्दकोश का लोकार्पण राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा द्वारा किया गया था।
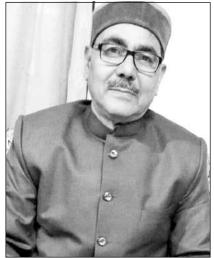
हिन्दी के अलावा कुमाउनी भाषा के उन्नयन के लिए भी प्रो. बिष्ट ने रचनाकर्म के स्तर पर बहुमूल्य पुस्तकें लिखी, जिससे कुमाउनी रचना संसार को समृद्धि मिली। कुमाउनी बोली नहीं,बल्कि एक समृद्ध व उच्च कोटि की भाषा है, इसको आधार बनाकर उन्होंने एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'कुमाउनी' लिखी, जिसे साहित्य अकादमी दिल्ली ने प्रकाशित किया। अपनी इस

तत्कालीन मुख्यमंत्री निशंक 2011 में गोविन्द चातक सम्मान देते हुए

महत्वपूर्ण पुस्तक में प्रो. शेर सिंह बिष्ट ने व्याकरण के आधार पर कहा कि कुमाऊँनी व कुमाउँनी लिखा जाना सही नहीं है, बल्कि कुमाउनी शब्द ही सही व व्याकरण सम्मत है। उनकी इस बात को मानते हुए तभी साहित्य अकादमी ने 'कुमाउनी' नाम से पुस्तक का प्रकाशन किया। इससे पहले हॉलाकि प्रो. केशव दत्त रुवाली भी कुमाउनी शब्द को ही सही व व्याकरण सम्मत बता चुके थे। पर उसके बाद भी कुमाउनी शब्द के सही लेखन को लेकर विवाद बना रहा। पर साहित्य अकादमी द्वारा प्रो. बिष्ट की 'कुमाउनी' पुस्तक के प्रकाशन के बाद अब कुमाउनी में रचनाकर्म में लगे लगभग सभी लोग इसी शब्द का प्रयोग व उच्चारण करते हैं। उनकी एक दर्जन पुस्तकें विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में शामिल हैं। उनके निर्देशन में लगभग दो दर्जन विद्यार्थियों ने पीएचडी की उपाधि प्राप्त की और 18 लघु शोध लिखे गए। वर्तमान में भी 5 छात्र उनके निर्देशन में पीएचडी कर रहे थे। प्रो. बिष्ट के साहित्य पर ममता गहतोड़ी ने पीएचडी की उपाधि ली है और 8 छात्रों ने उनके कुमाउनी-हिन्दी साहित्य पर लघु शोध लिखे हैं।

कुमाउनी को एक भाषा के तौर पर मजबूत बनाने में प्रो. बिष्ट द्वारा लिखी गई कुमाउनी, कुमाउनी भाषा और साहित्य का उद्भव एवं विकास, इजा, उचौण, हिन्दी- कुमाउनी-अंग्रेजी शब्दकोश, कुमाउनी वाचिक साहित्य, भारतक भविष्य, कुमाउनी बाल साहित्य, कुमाऊँ हिमालय: समाज एवं संस्कृति, कुमाउनी कहावतें एवं मुहावरे: विविध सन्दर्भ, कुमाऊँ हिमालय की बोलियों का सर्वेक्षण, कुमाउनी-हिन्दी कहावत कोश आदि पुस्तकों का अमूल्य योगदान है। कुमाउनी साहित्य में उनके योगदान को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध कुमाउनी पत्रिका पहरू के सम्पादक डॉ. हयात सिंह रावत कहते हैं कि अगर प्रो. बिष्ट प्रयास नहीं करते तो कुमाऊँ विश्वविद्यालय के अल्मोड़ा परिसर में बीए में कुमाउनी का पाठ्यक्रम शायद ही लागू हो पाता। उनके ही निर्देशन में कुमाउनी भाषा और साहित्य का पाठ्यक्रम 2013 में तैयार हुआ और उसके बाद ही परिसर में कुमाउनी भाषा विभाग की स्थापना

हुई, जिसके बाद ही 2014 से कुमाउनी को एक भाषा विषय के तौर पर कुमाऊँ विश्वविद्यालय के अल्मोड़ा परिसर में पढ़ाया जा रहा है। वे 2014 से 2018 में सेवानिवृत्त होने तक कुमाऊँ विश्वविद्यालय के अल्मोड़ा परिसर में कुमाउनी भाषा विभाग के संयोजक भी रहे। दुधबोलि होने के कारण कुमाउनी से उन्हें बेहद अनुराग था। विश्वविद्यालय में अध्यापन करने के बाद भी उन्होंने अपनी दुधबोलि को कभी भी नहीं छोड़ा और कुमाऊँ का जो भी व्यक्ति उनसे मिलता वे उससे कुमाउनी में ही बात करते थे। उनका मानना था कि व्यक्ति चाहे कहीं भी किसी भी पोस्ट पर नौकरी करे, पर अपनी जड़ों (बोली/भाषा-तीज-त्योहारों) को कभी नहीं भूलना चाहिए।

उनके साथ अल्मोड़ा परिसर में हिन्दी विभाग में प्रोफेसर रही दिवा भट्ट कहती हैं कि हिन्दी साहित्य में उन्होंने लगभग हर विधा में उच्च कोटि का लेखन किया और उनकी पुस्तकों से हिन्दी का साहित्य संसार समृद्ध ही हुआ। कुमाउनी के प्रसिद्ध कवि व कहानीकार जगदीश जोशी कहते हैं कि उनके आकस्मिक निधन से हिन्दी व कुमाउनी साहित्य जगत को जो क्षति हुई है, वह अपूरणीय है। उनका इस तरह अचानक से चले जाना बहुत ही पीड़ादायक है। प्रो.बिष्ट की सहपाठी व कुमाऊँ विश्वविद्यालय में हिन्दी की विभागाध्यक्ष रही प्रो. नीरजा टंडन के अनुसार, उन्होंने कुमाउनी भाषा-साहित्य, निबंध व व्याकरण तैयार किया। उनके हिन्दी व कुमाउनी साहित्य में लेखन के योगदान को देखते हुए कई संस्थाओं द्वारा सम्मानित भी किया गया था। जिनमें आचार्य नरेन्द्रदेव पारितोषक, यूजीसी कैरियर अवार्ड, सुमित्रानन्दन नामित सम्मान, उत्तरांचल रत्न अवार्ड, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी राष्ट्रीय साहित्य सम्मान, उत्तराखण्ड भाषा संस्थान का गोविन्द चातक सम्मान, हिलांस अवार्ड, शेर सिंह बिष्ट 'अनपढ़' कविता सम्मान, देवसुधा रत्न अलंकरण सम्मान प्रमुख हैं। जिसमें 'साहित्य और समालोचना' पुस्तक पर उन्हें एक लाख रुपए का शिक्षा पुरस्कार भी मिला। साहित्य व संस्कृति के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए कुमाऊँ लिटरेरी फेस्टिवल में 'लाइव टाइम अचीवमेंट अवार्ड-2016' से भी सम्मानित किया गया।

प्रो. बिष्ट 2018 में कुमाऊँ विश्वविद्यलय से सेवानिवृत्त होने के बाद अल्मोड़ा से आकर हल्द्वानी के मुखानी स्थित रौतेला कॉलोनी में अपनी पत्नी बिमला बिष्ट के साथ रहने लगे थे। अभी दो महीने पहले ही उनकी एक पुस्तक 'महाबलि मैद सौन और केसि सौन' प्रकाशित हुई थी। वे कुछ और पुस्तकों को अंतिम रूप देने में इन दिनों लगे हुए थे। अंतिम समय में लगातार रचनाकर्म से जुड़े रहने वाले प्रो. शेर सिंह बिष्ट का यूँ अचानक से हम सब के बीच से चला जाना बेहद स्तब्धकारी है। उन्हें भावपूर्ण अंतिम नमन! ●

लोक के चेतना पुंज रामरतन काला

❑ **डॉ. सतीश कालेश्वरी**

गढ़वाली लोक संस्कृति के पुरोधा, गुणी कलाकार, मधुर व्यक्तित्व के धनी व मिलनसार इंसान भाई रामरतन काला हमारे बीच नहीं रहे। गत 20 मई 2021 की रात हृदय गति रुकने से कोटद्वार में उनका निधन हो गया। लोक कलाकारों के लिए एक आदर्श, श्रोताओं के हृदय सम्राट, तंगहाल जीवन में भी मस्त-मलंग की भूमिका निभाने वाले रामरतन इस तरह चुप-चाप परलोक चले जाएंगे किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। काला जी का जाना सांस्कृतिक जगत के लिए एक अपूरणीय क्षति है।

रामरतन काला जी का पैतृक गाँव कूढ़ीधार, (सतपुली के निकट) पट्टी लंगूर, जिला पौड़ी गढ़वाल में है। उनका जन्म 14 जनवरी, 1950 को पदमपुर सुखरौ, कोटद्वार में हुआ। उनके पिता का नाम महिमानन्द काला व माता श्रीमती शाकम्भरी देवी था। उनकी पत्नी का नाम कमला देवी और बेटे का नाम गौरव काला है। उनकी ग्रेजुएशन तक की शिक्षा कोटद्वार में हुई। पिताजी सेना में थे और रामरतन को भी सेना में भेजने की योजना थी, लेकिन उनमें तो एक कलाकार के बीज पनप रहे थे और एक फौजी बनने की बजाए वह देखते-देखते गीत-संगीत व रंगकर्म के ऊम्दा कलाकार बन गए।

स्कूली दिनों से ही उनमें एक कलाकार के लक्षण परिलक्षित होने लगे थे। उनके अध्यापक मानने लगे थे कि इनमें एक समर्पित कलाकार के सम्पूर्ण गुण हैं। उनकी इस काबिलियत को आगे बढ़ाने के लिए गुरूजनों ने भरपूर योगदान दिया। उन्हें रंगमंच की किसी एक विधा के पैमाने से नापना दुष्कर कार्य था। उनके द्वारा गढ़वाली भाषा के संवाद बोलने में एक स्वाभाविकता, स्पष्टता व मौलिक प्रवाह रहता था। जब नृत्य करने मंच पर उतरते तो उनके पहाड़ी नृत्य के पदचालन व भाव भंगिमा देखकर दर्शक मंत्रमुग्ध हो जाते थे। गीत लेखन हो या गायन सभी क्षेत्रों में उनका भरपूर दखल होता था। इसी समग्रता के साथ वो लोक की सेवा करते रहे।

रंगमंच प्रस्तुतियों में एक बड़ी विशेषता होती है कि कलाकार को श्रोताओं का लाइव रिएक्शन मिलता है जिससे कलाकार का उत्साहवर्धन होता है व उसे और अच्छा करने की ऊर्जा प्राप्त होती है, प्रोत्साहन मिलता है। वे इस बात को भली-भांति जानते थे, इसलिए उनका मंच को प्रेम करना व महत्ता देना उनके व्यवहार का स्वाभाविक अंग था। उन्नीस सौ साठ-सत्तर के दशक में गढ़वाल गढ़देवा महोत्सव में खेलों के अलावा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में एकांकी नाटक, लोक गीत, लोकनृत्य, कवि दरबार व वाद-विवाद प्रतियोगिता हुआ करती थी। जिनमें रामरतन काला कोटद्वार जोन का प्रतिनिधित्व करते थे और उनकी मेहनत से कोटद्वार जोन कई प्रतियोगिताओं में विजयश्री प्राप्त करता था।

सन् 1974-75 तक काला जी रंगमंच के सशक्त हस्ताक्षर बन चुके थे और इस क्षेत्र में पूर्ण रूप से सक्रिय हो गए थे। उस समय में ना ऑडियो-वीडियो कैसेट्स थी, ना नजीबाबाद रेडियो स्टेशन और ना ही आंचलिक फिल्में। वह दौर छोटे-छोटे सांस्कृतिक ग्रुपों का दौर था। कोटद्वार में हिमानी कला संगम, भागीरथी कला संगम व लोक कलाकार महासंघ और लैन्सडौन में झंकार क्लब खूब फल-फूल रहे थे। काला जी इन सभी दलों में किसी भेद-भाव के जी खोलकर शिरकत किया करते थे।

झंकार क्लब लैन्सडौन को 1976 में बुराँस संस्था लखनऊ ने रविन्द्रालय, आर. डी.एस.ओ. कॉलोनी, दूरदर्शन व आकाशवाणी लखनऊ में गढ़वाली कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए निमंत्रण दिया। लखनऊ में गढ़वाल की नाक रखने का सवाल था, इसलिए लैन्सडौन, कोटद्वार और पौड़ी के कलाकारों को जोड़कर एक मजबूत टीम बनाई गई और इस टीम में अन्य कलाकारों के साथ रामरतन काला, गढ़ रत्न नरेन्द्र सिंह नेगी व हास्य कलाकार घनानन्द 'घन्ना भाई' भी थे। रविन्द्रालय में अन्य लोक प्रस्तुतियों के अतिरिक्त रामरतन काला, घनानन्द 'घन्ना भाई' द्वारा अभिनीत बादी- बदीण गीत 'मधुली हिरा-हिर' व एक हास्य झलकी
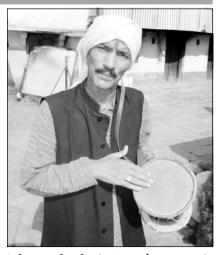
'मीनाकुमारी की हंत्या' सबसे ज्यादा पसंद किए गये। इन दोनों बेहद खूबसूरत कार्यक्रमों की परिकल्पना व आलेख रामरतन काला का था। सन् 1977 में दूसरी बार भी लखनऊ में एक शानदार गढ़वाली कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। सन् 1977 के पूर्ण कुम्भ इलाहाबाद में सूचना विभाग पौड़ी की तरफ से झंकार क्लब लैन्सडौन को जाना था। इस टीम में भी रामरतन काला जी के अभिनय का योगदान लिया गया था।

उस काल में पहाड़ में इन गतिविधियों से जीविकोपार्जन नहीं किया जा सकता था। सिर्फ तालियों और वाह-वाही के एवज में कलाकार अपने को घिसाता रहता था। जो कलाकार हॉबी के तौर पर इन गतिविधियों को अपनाए हुए थे वो अच्छा काम धंधा मिलने पर इसे छोड़ गए और कुछ अपने जॉब को साइड बिजनेस की तरह चलाकर कार्यक्रम प्रस्तुत करते रहे। काला जी से ना तो गढ़वाल छूटा और ना ही अपनी संस्कृति। तमाम आर्थिक विसंगतियों के बावजूद उन्होंने पूर्ण समर्पण भाव से अपनी सांस्कृतिक गतिविधियाँ जारी रखीं। परिवार बढ़ता रहा चार पुत्रियों और एक पुत्र का भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा एक बड़ी जिम्मेदारी थी। खेती बाड़ी के साथ कुछ समय के लिए उन्हें दीप टाकीज कोटद्वार में एक दुकान भी चलानी पड़ी। कलाकारी के पैशन के चलते उनकी दुकान कुछ समय पश्चात 1995 के आस-पास बंद भी हो गई।

उन्होंने आकाशवाणी नजीबाबाद की सन् 1980 से पहले ही लोकगीत की बी ग्रेड की स्वर परीक्षा पास कर ली थी। आगे चलकर वह आकाशवाणी के ग्राम जगत

कार्यक्रम में भेंट वार्ताओं, गीतों व लोक नाटकों की प्रस्तुति के माध्यम से महत्वपूर्ण स्तम्भ बन गए। सन् 1980 में ही उनका पहला एकल गढ़वाली गीत 'हिमालय का बेटा हम वीर पहाड़ी' प्रसारित हुआ था। इसी क्रम में 'बांजक् डाळ्युं कु पाणि', 'कख जांदा होला लोग' व बेहद पॉपुलर गीत 'कख मिलअलि नौकरी' श्रोताओं की जुबान पर चढ़ने लगे थे, लेकिन मनोरंजन की बुलंदियों पर पहुँचाने वाले गीत का श्रेय काला जी को 'ब्योळी खुजै द्यो मिथैं ब्यौळा बणै द्यो' गीत से मिला।

आकाशवाणी द्वारा आयोजित कन्सर्टस् में उनके द्वारा अभिनीत 'मीं त्वेकु नि आँद संग्राम बुढ्या रम्म-झम्म', 'हे रे बुढ्या ढकै सौं', कई भाव गीत व थड़िया-चौंफुळा लोकनृत्य अवश्य रखे जाते थे। रेडियो के माध्यम से उनकी पहुँच पूरे उत्तराखण्ड में हो चुकी थी। बाद में उन्होंने लोकगायन में आकाशवाणी की 'बी हाई' ग्रेड की स्वर परीक्षा भी पास कर ली थी। नित्यानंद मैठाणी द्वारा लिखित धारावाहिक 'म्यार द्वार की' में 'गमळ दा' (यशोधर डबराळ) के साथ 'रा रा दा' (राम रतन काला) के रूप में जुगलबंदी करके श्रोताओं के दिलों पर छा गए और लोकप्रियता की ऊँचाइयों को छूने लगे। वो रेडियो के माध्यम से अपने आप को सुदूर अंचलों तक बेहतरीन ढंग से स्थापित करने में सक्षम रहे।

कोटद्वार में उनके शिष्यों की फेहरिस्त बहुत लम्बी है। सहयोग और सहकार की भावना उनमें कूट-कूटकर भरी थी। इसी के चलते देश-प्रदेश में कल्चरल एक्सचेंज कार्यक्रमों के तहत गोवा फेस्टिवल, सूरजकुंड मेला, महाभारत उत्सव, नार्थ जोन कल्चर सेन्टर में अपने साथी कलाकारों को गायक, नृतक और उदघोषक के रूप में मंच ही नहीं दिलवाया उन्हें एक विशाल फलक भी उपलब्ध करवाया। अपने साथी कलाकारों को उन्होंने गढवाली फिल्म 'पापी पराण' और 'पतिव्रता रामी' में काम करने का अवसर प्राप्त करवाया। आकाशवाणी/दूरदर्शन में 'हन्तया पुजै' 'हळ्या', 'बांजी गौड़ी, राज- जात्रा जैसे लोक नाटकों में भी अपने साथी कलाकारों को काम दिलवाया। उनके सहयोगियों को इस बात का अफसोस रहेगा कि उनके द्वारा लिखित नाटक 'सुबेदार साब' की स्क्रिप्ट पर मंथन के बाद भी वे आगे नहीं बढ़ पाये।

उन्होंने अपनी प्रस्तुतियों में लोक जीवन से जुड़े नए कार्यक्रम प्रस्तुत करके अपने अभिनय का लोहा ही नहीं मनवाया था, बल्कि लोक संगीत, लोकनृत्य और लोक हास्य की जमीन भी पुख्ता की। ये भी ज्ञात हुआ है कि 1975 के समीप उन्होंने कण्व आश्रम की महत्ता से प्रभावित होकर 'शकुन्तला' गीतनाटिका की रचना की थी और उसके कई मंचन भी किए थे।

प्रसिद्ध लोक गायक नरेंद्र सिंह नेगी 1985 में प्रवासी बंधुओं के निमंत्रण पर एक बड़े ग्रुप के साथ पौड़ी से बंबई गए थे। काला जी उस टीम का भी हिस्सा रहे। वहाँ प्रवासी पहाड़ियों के बीच गढ़वाल से पहली टीम गई एवं एक सफल कार्यक्रम किया। इसके बाद नेगी जी के साथ उनका कार्यक्रम देने का सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। काला की पहली फीचर फिल्म 'कौथिग' थी। इसमें उन्होंने चाचा का रोल किया जो आज भी लोगों को बहुत पसंद आता है। उसके बाद वीडियो फिल्मों के माध्यम से उन्होंने अपना काम दर्शकों तक पहुँचाया। इस क्रम में उनके द्वारा अभिनीत शॉर्ट फिल्म 'डुट्याळ जी प्रधान' पलायन पर एक संदेशात्मक फिल्म साबित हुई और बेहद पसंद की गई। ललित मोहन थपलियाल द्वारा लिखित 'खाडु लापता' फिल्म में उनका वैद्य का चरित्र खूब सराहा गया।

रामरतन काला ने 'स्यांणी', 'नौछमी नारेणा', 'सुरमा सरेला', 'हल्दी हाथ', 'तेरी जग्वाळ', 'बसंत ऐगे' जैसी कई वीडियो एल्बमस् में नरेन्द्र सिंह नेगी जी के गीत; सूदी नी बौनु, जननी को मरयुं छौं, हल्दी हात, तीतरी फंसे चखुली फंसे, सरू तू मेरी, नया जमना की कन उठि बौल, तिबरी-घंडिल्यूं मा रौक एण्ड रोल, तेरो मछोई गाड बोगिगे, ले खाले अब खा माछा, समद्यौला का द्वी दिन समलौणा ह्वै गीनि सहित कई अन्य गीतों में अपने अभिनय की अमिट छाप छोड़ी और इन गीतों को यादगार व सदाबहार बना दिया।

काला जी ने 'कौथगेर कला मंच' के नाम से 1991 में ग्रुप भी बनाया। वह इस मंच के तहत लोक जीवन से जुड़े कई कार्यक्रम प्रस्तुत कर जनमानस का मन मोहते रहे। फिल्म एवं एल्बम्स् के माध्यम से अपनी संस्कृति की सेवा में अभूतपूर्व योगदान देने के लिए सन् 2014 में दिल्ली की संस्था 'यंग उत्तराखंड' ने अपने 5वें सिने अवार्ड, 'शाह ऑडिटोरियम दिल्ली' में आयोजित कार्यक्रम में 'यूका लाइफ टाइम एचीवमेंट अवार्ड' से सम्मानित किया था।

सन् 2008 में सतपुली के एक सांस्कृतिक कार्यक्रम के दौरान उन्हें पक्षाघात हुआ जिसके चलते उनका स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया। परिवार की सेवा व चाहने वालों की शुभकामनाओं से उन्होंने स्वास्थ्य लाभ तो कर लिया, लेकिन उसके पश्चात उनकी तमाम गतिविधियों में अवरोध उत्पन्न हो गया। इसके बावजूद भी उन्हें संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन की चिन्ता घेरे रहती थी। वो सदैव कहते थे 'कलाकार अपनी कला से कभी संतुष्ट नहीं होता। लोग तो कहते हैं कि आप एक से एक बेस्ट परफॉर्मेंस दे चुके हैं, लेकिन मेरी चाहत है कि मुझे अभी भी अपना 'दि बेस्ट' देना है और बहुत काम करना है।' काला जी अपनी अंतिम सांस तक पहाड़ की लोक संस्कृति के लिए समर्पित रहे। वे संस्कृति प्रेमियों की स्मृतियों में एक चेतना पुंज की तरह सदैव विद्यमान रहेंगे। ●

नरेंद्र सिंह भंडारीः बहुगुणा की विरासत का स्तंभ ढह गया

❒ योगेश धस्माना/कमलेश मिश्र

उत्तर प्रदेश और उत्तराखंड की राजनीति में चार दशकों तक प्रमुख चेहरा बने रहने वाले नरेंद्र सिंह भंडारी, हेमवती नंदन बहुगुणा की विरासत का ऐसा मजबूत स्तंभ था, जिन्होंने ताउम्र सिद्धांतों की खातिर राजनीतिक समझौते नहीं किए। बहुगुणा परिवार आज भले ही अपने पिता की विरासत को भूलकर भाजपा में चले गए हों किंतु स्वर्गीय भंडारी काँग्रेस में ही आजन्म सिपाही बने रहे।

7 मई 1932 को निसणी, पौड़ी गढ़वाल में रतिराम भंडारी के घर पर जन्मे नरेंद्र भंडारी एक संभ्रांत परिवार के व्यक्ति थे। पहले गाँव निसणी फिर मैसमोर इंटर कॉलेज और तत्पश्चात बी.ए. परीक्षा उन्होंने कानपुर से उत्तीर्ण की। इसके बाद वे पौड़ी चले आए। यहाँ उन्होंने कुछ अर्से तक व्यापार किया, फिर काँग्रेस के सक्रिय सदस्य बने। इसमें उनके बड़े भाई सुल्तान सिंह भंडारी की अहम भूमिका रही थी। सुल्तान सिंह भंडारी उत्तर प्रदेश विधान परिषद के लोकप्रिय विधायक रहे थे। 1982 के बहुचर्चित गढ़वाल लोकसभा उप चुनाव में नरेंद्र सिंह भंडारी ने हेमवती नंदन बहुगुणा का साथ दिया। इसके अतिरिक्त कुंवर सिंह नेगी, भारत सिंह रावत और डॉक्टर शिवानंद नौटियाल ने भी इस चुनाव में बहुगुणा का साथ देकर बहुगुणा की चुनाव की रणनीति को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इंदिरा गाँधी की तमाम कोशिशों के बाद भी बहुगुणा जीत के साथ लोकसभा में पहुँचे थे। नरेंद्र सिंह भंडारी का राजनीतिक सफर बहुगुणा के साथ ही चलता रहा। 1977 में काँग्रेस की हार के बाद जगजीवन राम, नंदनी सतपति के साथ बहुगुणा ने जब काँग्रेस फॉर डेमोक्रेसी बनाई तो उपरोक्त सभी विधायक नरेंद्र सिंह भंडारी के साथ बहुगुणा के साथ चले गए।

इस तरह उन्होंने बहुगुणा की राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए 1980-1990 के विधानसभा चुनाव में पौड़ी से बहुमत के साथ विजय प्राप्त कर उत्तर प्रदेश विधानसभा

में पहुँचे। बहुगुणा के निधन के बाद उन्होंने मुलायम सिंह यादव की सरकार में साथ रहते हुए पर्वतीय विकास विभाग का प्रमुख जिम्मा संभाला था। मुलायम सिंह ने अध्यक्ष के नाते उन्हें अपने समस्त अधिकार सौंप दिए थे। परिणाम स्वरूप उन्होंने मुलायम सिंह का साथ देते हुए उस समय 45 वर्ष तक के बेरोजगार युवाओं को शिक्षक बनाकर एक नया इतिहास रच दिया था।

इसी समय जब उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह सरकार को बसपा ने गिरा दिया था और विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में नई सरकार का गठन हुआ था, तब उनके सिंचाई मंत्री रहे वीर बहादुर सिंह ने विश्वनाथ प्रताप सिंह के कहने पर नरेंद्र सिंह भंडारी और कुंवर सिंह नेगी को अपने दल में आने के लिए प्रलोभन दिया कि उन्हें ऐसा करने पर मंत्री पद दिया जाएगा। नरेंद्र सिंह भंडारी और कुंवर सिंह नेगी ने इस प्रलोभन को ठुकराते हुए मुलायम सिंह का साथ देने का निश्चय किया था।

हेमवती नंदन बहुगुणा के निधन के बाद और 1994 में मुजफ्फरनगर कांड से दुखी होकर उन्होंने समाजवादी पार्टी छोड़ दी और काँग्रेस में वापसी की। उत्तराखण्ड राज्य के प्रथम विधानसभा चुनाव 2002 में उन्होंने पौड़ी की परंपरागत सीट से चुनाव लड़कर भाजपा प्रत्याशी तीरथ सिंह को हराकर अपना जनपक्षीय चेहरा जनता के सामने प्रस्तुत किया था। इस ऐतिहासिक जीत के बाद उन्होंने नारायण दत्त तिवारी मंत्रिमंडल में शिक्षा मंत्री का पद ग्रहण किया, जिसे उन्होंने बखूबी निभाया। यही नहीं उस कैबिनेट में सुरेन्द्र सिंह नेगी, हरक सिंह रावत, टीपीएस रावत, अमृता रावत सहित पाँच मंत्री पौड़ी जनपद से थे।

भण्डारी ने शिक्षा मंत्री बनते ही सर्वप्रथम 1998 की विज्ञप्ति में छूटे स्नातक वेतनक्रम के 223 शिक्षकों को नियुक्ति देने का कार्य किया। इसके बाद 2002, 2004 और 2006 में एल.टी. की विज्ञप्ति के जरिये पदों को भरा गया और इसके अलावा 2005 में न्याय पंचायत स्तर पर नियुक्त शिक्षा बन्धुओं को तदर्थ नियुक्ति दी गई। इसी तरह 2002 एवं 2003 में बीटीसी के जरिये प्राथमिक शिक्षकों की भर्ती की गयी और 2005 और 2006 में चार बार विशिष्ट बीटीसी के जरिये बीएड एवं बीपीएड प्रशिक्षित बेरोजगारों को प्राथमिक शिक्षक के रूप में नियुक्ति दी गई। 2005 में शिक्षा मित्रों की नियुक्ति द्वारा भी प्राथमिक शिक्षकों के पदों को भरा गया।

2004 में राज्य बनने के बाद पहली बार लोक सेवा आयोग द्वारा राजकीय इंटर कॉलेजों में प्रवक्ता पदों के लिए विज्ञप्ति निकाली गयी और इसके बाद प्रतीक्षा सूची के जरिये लगातार इन पदों को भरा गया। इण्टर कॉलेजों में प्रधानाचार्य बनने के लिए प्रधानाध्यापक के पद पर 5 वर्ष की अनिवार्यता में 50 प्रतिशत की छूट दी गयी। जिसके बाद छह माह से एक वर्ष की अवधि में प्रधानाध्यापक बने शिक्षकों को तदर्थ आधार पर प्रधानाचार्य बनाया गया। अप्रैल 2006 में बेसिक शिक्षा परिषद का राजकीयकरण किया गया, जिसका लाभ आज हजारों परिषदीय शिक्षकों को आर्थिक और पदोन्नति के आधार पर मिल रहा है। अशासकीय विद्यालयों में नियुक्ति के लिए धारा 18-ख को पुनर्जीवित कर अशासकीय विद्यालयों में हजारों शिक्षकों की नियुक्ति की गयी।

इस दौरान प्रदेश भर में हजारों प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक विद्यालयों का सृजन सर्व शिक्षा अभियान के तहत किया गया। प्रदेश भर में 1000 से अधिक विद्यालयों का मिडिल से हाईस्कूल एवं हाई स्कूल से इंटर में उच्चीकरण किया गया जिससे हजारों पदों का सृजन हुआ। इस समय

स्थितियाँ ऐसी थी कि क्षेत्रीय विपक्षी विधायक भी इसे अपनी उपलब्धि बताते नहीं थकते थे। इसी समय हाईस्कूल एवं इंटर कॉलेजों में को-एजुकेशन वाले विद्यालयों में महिलाओं की नियुक्ति को हरी झंडी मिली और उन्हें सरकारी नौकरियों में 30 प्रतिशत आरक्षण का लाभ सरकार द्वारा दिया गया जिसका बड़े पैमाने पर लाभ महिला शिक्षिकाओं को मिला, क्योंकि पूर्व में पदों के अभाव में योग्यता के बावजूद उन्हें शिक्षिका बनने का सम्मान नहीं मिल पाता था। इस दौरान स्थानान्तरण की कोई ठोस नीति न होने के बावजूद सभी ऐच्छिक शिक्षक-कर्मचारियों को स्थानान्तरण में कोई परेशानी नहीं हुयी। हालांकि काँग्रेस शासनकाल में हमेशा की तरह इन स्थानान्तरणों में भी बड़े स्तर पर भ्रष्टाचार हुआ।

आज जहाँ शिक्षा विभाग में हजारों पद रिक्त होने के बावजूद नियुक्तियाँ नहीं हो पा रही हैं, वहीं भण्डारी के पाँच वर्ष के कार्यकाल में पचास हजार से अधिक नियुक्तियाँ हुयी और भविष्य के लिए भी बेरोजगारों के लिए हजारों पदों का सृजन किया गया। उस समय स्थितियाँ बेरोजगारों के लिए इतनी अनुकूल थी कि एक ही अभ्यर्थी को प्राथमिक, एल.टी. और प्रवक्ता में नियुक्ति मिली।

सरल सौम्य और सिद्धांतों पर अडिग रहने वाले स्वर्गीय नरेंद्र सिंह भंडारी का मानना था कि राज्य गठन के बाद अधिकतर शिक्षकों और कर्मचारियों की नियुक्ति और ट्रांसफर के लिए दबाव के चलते मंत्रीगण अन्य कार्यों के लिए समय नहीं दे पाते। अक्सर मैंने कई अवसरों पर देखा कि ट्रांसफर को लेकर शिक्षक जब उन पर दबाव बनाते तो वोट की राजनीति की परवाह छोड़ कर उन्हें फटकार लगाने में वह नहीं चूकते थे। बहुगुणा उन्हें राष्ट्रीय राजनीति में लाना चाहते थे और इस नाते उन्होंने अपनी कोर कमेटी में भी उन्हें सम्मिलित किया था किंतु बहुगुणा के निधन के साथ ही कोर कमेटी भी निष्क्रिय हो गई थी। आज नरेंद्र सिंह भंडारी के असामयिक निधन से हमने ऐसा नेता खो दिया है, जिसने ताउम्र हेमवती नंदन बहुगुणा का साथ देकर इस राज्य में उनकी विरासत को संभालने का सफल प्रयास किया। ●

असमय काल का ग्रास बने गोपाल रावत

❒ मदन मोहन बिजल्वाण

गंगोत्तरी विधानसभा के विधायक गोपाल सिंह रावत का असमय चला जाना बहुत दुखदायी है। गोपाल रावत मेरे सहपाठी थे, उनके साथ विद्यार्थी जीवन की कई स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। उनसे मेरे व्यक्तिगत सम्बंधों का दायरा चार दशकों से अधिक समय को समेटे हुए है। वैचारिक मतभेद हमारी मित्रता में कभी आड़े नहीं आया। उनका निधन मेरे लिए एवं उनके परिचितों के लिए एक ऐसा तल्ख और त्रासद अनुभव है जो कभी भी भुलाया नहीं जा सकेगा।

गोपाल रावत छात्र जीवन से ही राजनीति में रहे। वे राजकीय महाविद्यालय उत्तरकाशी के छात्रसंघ के अध्यक्ष रहे। कॉलेज से पासआउट करने के बाद वे नगरपालिका उत्तरकाशी के सभासद एवं विकासखंड डुण्डा के ब्लॉक प्रमुख रहे।

राज्य बनने के बाद उत्तरकाशी में जिन दो युवा नेताओं का दबदबा रहा उनमें पूर्व विधायक विजयपाल सजवाण और गोपाल रावत प्रमुख थे। ये दोनों ही काँग्रेस में राज्य बनने से पूर्व काफी सक्रिय थे। उस दौर में उत्तरकाशी में काँग्रेस की राजनीति को इन दोनों से अलग कर नहीं देखा जा सकता था। गोपाल रावत और विजयपाल सिंह सजवाण अभिन्न मित्र थे। बचपन से लेकर और उत्तराखण्ड राज्य बनने तक इन दोनों की आपस में दांतकटी रोटी का सम्बन्ध था। ठेकेदारी से लेकर राजनीति तक दोनों की घनिष्ठ मित्रता थी, किन्तु उत्तराखण्ड राज्य बनने के बाद जब विधायक का सवाल सामने खड़ा हो गया फिर क्या करते। दोनों की विधानसभा एक ही थी। काँग्रेस से किसी एक को ही विधायक का टिकट मिल सकता था। दोनों ने जोर आजमाइश की और इसमें विजयपाल सिंह सजवाण ने काँग्रेस पार्टी का टिकट हासिल कर बाजी मार ली और विजयपाल सजवाण उत्तराखण्ड की पहली विधानसभा के लिए गंगोत्तरी से विधायक चुने गए। इस चुनाव में उन्होंने प्रख्यात कम्युनिष्ट नेता कमला राम नौटियाल को परास्त किया। जन-जन के नेता और उत्तरकाशी में आन्दोलनों और जन संघर्षों के लिए जाने जाते रहे कॉमरेड कमला राम नौटियाल की इस हार ने सभी को स्तब्ध कर दिया। वोटों का अन्तर भी मात्र 500 के आस-पास ही था। तब भाजपा ने इस सीट से बुद्धि सिंह पंवार को अपना प्रत्याशी बनाया था जो तीसरे नम्बर पर रहे।

यहीं से विजयपाल और गोपाल की मित्रता में दरार पड़ी और गोपाल रावत को मजबूरन भारतीय जनता पार्टी में शामिल होना पड़ा। काफी मशक्कत के बाद गोपाल रावत भाजपा से 2007 में टिकट लाने में सफल हुए और उस चुनाव में उन्होंने विजयपाल को पटकनी देकर जीत भी हासिल की।

उत्तराखण्ड राज्य बनने के बाद गोपाल रावत वर्ष 2007 में एवं 2017 में भारतीय जनता पार्टी के टिकट पर विधायक चुने गए। उनके स्वाभाव की खासियत यह थी कि वे किसी को गलत आश्वासन नहीं देते थे। जिसका काम वे कर सकते थे उसका काम वे कर देते थे और जिसका काम नहीं हो सकता था उसे उसके मुंह पर साफ मना कर देते थे। ऐसी खूबी एवं स्पष्टवादिता बहुत कम नेताओं में देखने को मिलती है। अपने क्षेत्र के विधायक एवं सहपाठी मित्र को विनम्र श्रद्धांजलि। ●

व्यवस्था के मुखर आलोचक थे अजीत साहनी

❒ रीता खनका

रंगकर्मी व जनसरोकारों से गहरे तक जुड़े रहे अजीत साहनी को असमय ही कोविड-19 से संक्रमण ने हमसे छीन लिया। उनका जन्म 25 मई 1965 को मुम्बई में हुआ। उनकी माँ का नाम वेद कौर था और पिता का नाम चरनजीत सिंह साहनी। रामनगर के स्नातकोत्तर महाविद्यालय से 1987 में स्नातक किया। वह अपने पीछे पिता चरनजीत सिंह, पत्नी सुमन साहनी, बेटे हर्षदीप और बेटी गार्गी को शोकाकुल छोड़ गए हैं। अजीत का विवाह चौखुटिया (अल्मोड़ा) के मुन्नालाल शाह की बेटी सुमन से 18 जनवरी 1998 को हुआ। वे पाँच भाई-बहनों में दूसरे नम्बर के थे। उनसे एक बड़े भाई हैं। उनके छोटे भाई का भी कुछ साल पहले निधन हो चुका है।

रंगकर्मी व जनसरोकारों के लिए लड़ने वाले अजीत साहनी के जीवन को भारी उथल-पुथल के साथ बदल कर देने में 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद हुए भयावह दंगों का मानसिक स्तर पर पड़ा असर रहा। उस दंगों में पूरे देश में हजारों सिख मारे गए थे। उनके घर, दुकानें, होटल और दूसरे व्यवसाय दंगाइयों ने बर्बाद कर दिए थे। इंदिरा गाँधी की हत्या से पहले तक अजीत एक सामान्य धार्मिक युवा सिख थे जो नियमित तौर पर गुरुद्वारे जाता था। पर इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद सिखों के कत्लेआम ने उनके मस्तिष्क में गहरा असर किया और उन्हें देश, समाज, राजनीति, धर्म और उसकी कट्टरता को लेकर बहुत कुछ सोचने को विवश किया।

इसी सोच-विचार के दौर में वे पंजाब के कुछ वाम विचार वाले साथियों के सम्पर्क में आए। उनसे बातचीत, बहस, तर्क और विमर्श ने अजीतदा की दुनिया ही बदल दी। उनके अन्दर एक राजनैतिक समझ पैदा हुई। वैचारिक तौर पर कुछ परिपक्वता आने से बाद नाटकों की ओर उनका ध्यान गया। रंगमंच की ओर उन्हें केबी लाल श्रीवास्तव ले गए जो रामनगर इंटर कॉलेज में उनके गुरु थे। वह ऐसा दौर था जब रामनगर में हर साल अखिल भारतीय नाटक प्रतियोगिता होती थी। केबी लाल ही प्रतियोगिता का आयोजन करवाते थे। वे ही नाटकों की उस उच्च कोटि की प्रतियोगिता के सब कुछ थे। उन्होंने ही सबसे पहले अजीत को रंगमंच के बारे में बताया और बारीकियाँ समझाई। उसके सामाजिक व राजनैतिक असर से भी अवगत कराया।

इसी बीच जेएनयू के एवं उस समय के इंडियन पीपुल्स फ्रंट के कुछ साथियों के सम्पर्क में आने पर उन्हें 'मध्य भारत का इतिहास' पढ़ने को मिला। उस किताब को पढ़ने के बाद जैसे उनकी अपनी दुनिया ही बदल गई। वहीं से बदलाव शुरू हुआ। इसके बाद इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान, विश्व क्लासिक साहित्य से सम्बंधित कई किताबें उन्होंने पढ़ी। इन किताबों ने अजीत को पूरी तरह से वैचारिक व मानसिक स्तर पर बदल दिया। इसके बाद बिहार के हिरावल की तर्ज पर रामनगर में भी हिरावल मंच का गठन उन्होंने अपने साथियों के साथ किया और फिर नुक्कड़ नाटकों का सिलसिला शुरू हुआ। तब शिक्षक नवेन्दु मठपाल भी उनके साथ ही सक्रिय थे।

अजीत साहनी ने मंच पर एक था गधा, पगला घोड़ा, औरत, कर्फ्यू, गड्ढा आदि अनेक नाटकों में अभिनय किया। अधिकतर स्ट्रीट प्ले ही किये। उन्होंने कई नाटकों का मंचन दिल्ली, लखनऊ, बरेली, काशीपुर, रामनगर में किया। रामनगर कॉलेज में भी सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ एक बेहतर माहौल की नींव रखी गई जो कालांतर में धूल धूसरित हो गई। वक्त के चलते इसके कुछ राजनीतिक कारण थे और उसके बाद अजीत साहनी भी दिल्ली चले गए। रंगमंच को और गहरे से जानने-समझने और अभिनय की बारिकियाँ सीखने के लिए दिल्ली श्रीराम भारतीय कला केंद्र में प्रवेश लिया। वहाँ सीखा बहुत कुछ, पर कुछ सीखने के बाद मन उचट सा गया। दूसरे राजनैतिक संगठनों में वैचारिक व दूसरे स्तरों पर अन्दर से जबरदस्त उथल-पुथल देखी। जिसके उपरांत साहनी सब कुछ छोड़ कर के व्यापार में व्यस्त हो गये और रामनगर में फोटो की कलर लैब खोली। उसी की एक शाखा उन्होंने बदरीनाथ में भी खोली थी।

व्यवसाय में रहने के बाद भी उनका बावरा मन कहाँ मानने वाला था? इस बीच 9 नवम्बर 2000 को उत्तराखण्ड भी अलग राज्य बन गया। जिन सपनों के साथ राज्य की लड़ाई लड़ी गई, वह सब सपने तेजी के साथ दरक रहे थे जिससे उनके अन्दर फिर एक बैचेनी पैदा हुई और वह दस वर्ष पहले फिर रंगमंच व जनसरोकारों के दूसरे आन्दोलनों में सक्रिय हुए। पर यह दूसरी पारी बहुत आसान नहीं थी। पूरे देश के हिंदी पट्टी के रंगकर्मियों, संस्कृति कर्मियों, एक्टिविस्ट के साथ पुन: जन पक्षधर थियेटर के प्रयास शुरू किए।

उत्तराखण्ड में भी 2019 में जनरंग संगठन बनाया था जिसकी गतिविधियाँ उसके बाद गत वर्ष 2020 में कोविड-19 के संक्रमण के चलते बहुत आगे नहीं बढ़ पाईं। कोविड-19 का संक्रमण कम होने के इंतजार के बाद अजीत बहुत जल्द देश के प्रसिद्द रंगकर्मियों, एक्टिविस्ट के साथ एक बड़ा कार्यक्रम रामनगर में करवाने के कार्य में लगे हुए थे। उन्हें उम्मीद थी कि इस साल 2021 के आखिर तक वह कार्यक्रम सामने आएगा जो एक तरह से उत्तराखण्ड में सांस्कृतिक बदलाव का वाहक बनेगा, यह विश्वास उन्हें था।

पर अफसोस है कि अपने इस सांस्कृतिक बदलाव के सपने को पूरा करने से पहले ही गत 24 अप्रैल 2021 को कोविड-19 के जानलेवा हमले ने एक मुखर, संवेदनशील व जनरोकारों के लिए हमेशा खड़े रहने वाले अजीत को हम सब से हमेशा के लिए छीन लिया। उनके असामयिक निधन से एक वैचारिक सांस्कृतिक शून्य पैदा हुआ है जिसे भर पाना मुश्किल है, क्योंकि अजीत साहनी होना बहुत आसान व सरल नहीं होता। उन्होंने हमेशा हर तरह की संकीर्णता, साम्प्रदायिकता का खुलकर विरोध किया। ●

अदम्य साहसी और धुन के पक्के थे गजेन्द्र सिंह परमार

❐ **डॉ. योगम्बर सिंह बर्त्वाल**

कोरोना महामारी का यह दौर पूरे देश के साथ उत्तराखण्ड को भी गहरे जख्म दे गया है। इस महामारी ने अनेक प्रतिभाओं को हमेशा-हमेशा के लिए हमसे छीन लिया है जिसकी भरपाई हो पाना अब मुमकिन नहीं है। ऐसे ही दुर्लभ व्यक्तित्व के धनी थे उत्तरकाशी के गजेन्द्र सिंह परमार जिन्हें गत 2 मई को कोरोना ने अपने आगोश में ले लिया।

उत्तरकाशी जिले के रुणवासा गाँव के गजेन्द्र सिंह परमार अपने अदम्य साहस के लिए जाने जाते रहे। इनका सम्बन्ध टिहरी राज परिवार से रहा। गजेन्द्र सिंह के पिता ठाकुर कृपाल सिंह टिहरी नरेश सुदर्शन शाह के पुत्र बदरी सिंह के वंशज थे जिन्हें राजमाता गुलेरिया ने भागीरथी नदी के किनारे हाडियारी गाँव में बसा दिया था। इनके पूर्वजों ने अपने अदम्य साहस से इस गाँव में सिंचाई गूल निकाल कर वहाँ की भूमि को हरा-भरा बना दिया।

गजेन्द्र सिंह के पिता कृपाल सिंह अपने साहसिक कार्यों के लिए क्षेत्र में विख्यात थे। घुड़सवारी के शौकीन कृपाल सिंह मैदानी क्षेत्र रामपुर बुसाहर से घोड़े लाकर उनका व्यापार भी करते थे। ऐसे ही एक घोड़े की कलाकृति मशहूर कलाकार अवतार सिंह पंवार ने बनाई थी जो लखनऊ की ललित कला अकादमी के संग्रह में आज भी मौजूद है।

1962 में जब उत्तरकाशी जिले का गठन हुआ, तब कृपाल सिंह कचहरी में अर्जी नवेश का कार्य करने लगे। गजेन्द्र सिंह जो तब 8वीं के छात्र थे, को गाड़ी चलाने का ऐसा शोक चढ़ा कि उन्होंने पढ़ाई पर ध्यान देने के बजाय साठ के दशक में ही ड्राइवरी और कंडक्टरी की बदौलत कुछ धन अर्जित कर एक गाड़ी खरीद ली और उसे ही अपनी रोजी-रोटी का जरिया बना दिया। साठ के दशक में ही गंगोत्तरी जाने के लिए सड़क तो बन गई पर लंका और भैरों घाटी के बीच जो 300 मीटर का स्पान था, उस पर पुल नहीं था। इसी स्थान पर 1872 में फ्रेडरिक विल्सन व अंग्रेज अफसर हैमिल्टन

ने टिहरी नरेश के लिए जो झूला पूल बनाया था, वह टूट चुका था। अवशेष के रूप में उस पुल का एक लोहे का मोटा रस्सा पेड़ों से लिपटा हुआ था। गजेन्द्र सिंह ने अपने जीवन भर की कमाई से उस रस्से पर गरारियों के माध्यम से बस का चेसिस और अन्य सामान लंका से भैंरो घाटी पहुँचा दिया और इस तरह से भैरों घाटी से गंगोत्तरी तक की बस सेवा गजेन्द्र सिंह द्वारा शुरू की जा सकी।

गंगोत्तरी जाने के लिए यात्रियों को लंका से एक किलोमीटर नीचे तथा फिर एक किलोमीटर ऊपर भैरोंघाटी का खतरनाक सफर पैदल तय करना होता था, जहाँ से गजेन्द्र सिंह परमार की मोटर उन्हें हर्सिल और गंगोत्तरी तक पहुँचाती थी। यह व्यवस्था 1965 से लेकर राज्य बनने के बाद 2005 तक तब तक ऐसे ही चलती रही जब तक इस 300 मीटर के स्पान में पक्का मोटर पुल नहीं बना।

गजेन्द्र सिंह के साहस की एक बानगी और देखिए। 1978 में एक दिन भागीरथी का प्रवाह एकदम रूक गया और उत्तरकाशी में गंगा लगभग सूखी दिखाई पड़ने लगी। शहर में यह घटना आग की तरह फैल गई। गजेन्द्र सिंह को जब यह मालूम पड़ा तो वह अपनी मोटर साइकिल पर गंगोत्तरी मार्ग पर निकल पड़े। रास्ते अवरुद्ध थे, तब वह गंगनाणी से आगे एक पहाड़ से उतर कर डबराणी पहुँचे जहाँ भागीरथी भूस्खलन के कारण एक झील में बदल गई थी। घटना स्थल पर सबसे पहले पहुँचने वाले गजेन्द्र सिंह ने तब इसकी सूचना सड़क पर आकर टेलीफोन से जिला प्रशासन को दी। जिसके बाद राहत और झील के मुहाने को खोलने का काम शुरू हुआ।

गजेन्द्र सिंह के जीवन में घटित अनेक किस्सों में एक किस्सा यह भी है कि सन् 1987 में एक दिन जब गजेन्द्र सिंह स्नान कर रहे थे और उनके शरीर पर साबुन भी लगा था, तभी उनकी नजर खिड़की के पार ढुंगी गाँव के जंगल पर घास काटती हुई एक महिला पर पड़ी जो अचानक पैर फिसलने से गिरकर चट्टान पर अटक गई थी। यह देखते ही गजेन्द्र सिंह ने पानी से मुँह धोया और तौलिया लपेट कर अपने स्नानागर से बाहर आए और अपनी जीप से उसी हालत में दुमका होते हुए घटनास्थल तक पहुँच गए। खून से लथपथ महिला को कन्धे पर उठाकर जीप में डाला और उत्तरकाशी जिला अस्पताल में भर्ती करवाया। प्राथमिक उपचार के बाद उन्होंने अपने एक परिचित से कपड़े मंगवाए और फिर ढुंगी गाँव जाकर महिला के परिवार वालों को सूचित किया। समय से उपचार मिलने से महिला की जान बच गई।

ऐसे ही अनगिनत किस्से गजेन्द्र सिंह परमार से जुड़े हैं। 70 के दशक में उत्तरकाशी से पौड़ी जाने वाली मोटर गाड़ी गजेन्द्र सिंह की ही थी। गजेन्द्र सिंह पूरे इलाके में 'ठाकुर ड्राइवर' के नाम से भी मशहूर थे। लम्बी गलमूछों और लगभग सात फीट ऊँची कद काठी के गजेन्द्र सिंह दिखने में जितने बलिष्ठ थे, व्यवहार में उतने ही शालीन और मृदुभाषी। समूचे क्षेत्र में वह बहुत ही लोकप्रिय थे और शरीर सौष्ठव के लिहाज से भी वह भीड़ में अलग से ही पहचान लिए जाते थे।

गढ़वाल राजवंश से ताल्लुक रखने वाले इस अदम्य साहसी और अपनी धुन के पक्के गजेन्द्र सिंह परमार को कोरोना की दूसरी लहर लील गई, पर उन्हें आज भी पुराने लोग बहुत शिद्दत से याद करते हैं। विनम्र श्रद्धांजलि। ●

स्मृति-शेष

आपकी कमी हमेशा बनी रहेगी दानी दा

❑ **जगमोहन रौतेला**

गत 23 अप्रैल को सवेरे-सवेरे पारिवारिक स्तर पर मुझे बहुत पीड़ादायक खबर मिली। माध्यमिक शिक्षा के अपर निदेशक रहे दाज्यू दान सिंह रौतेला का तड़के दिल्ली में निधन हो गया। पढ़ने-लिखने के शौकीन दाज्यू का मेरे जीवन पर भी गहरा असर रहा। कोविड संक्रमण के कारण उन्हें अंतिम विदाई देने दिल्ली नहीं जा पाया। संक्रमण के नियमों की कई तरह की सख्ती की वजह से काठगोदाम (नैनीताल) के निवासी दान सिंह रौतेला का उनकी पत्नी हरिप्रिया रौतेला (पूर्व प्रधानाचार्य) व एक निजी बैंक में उत्तरी जोन के एरिया मैनेजर उनके बेटे उदित प्रताप सिंह ने दिल्ली में ही अंतिम संस्कार का निर्णय किया।

दान सिंह रौतेला पिछले कुछ वर्षों से फेफड़े सिकुड़ने की बीमारी से जूझ रहे थे। इसी कारण उन्हें पिछले तीन वर्षों से पोर्टेबल ऑक्सीजन मशीन के सहारे हमेशा ऑक्सीजन लेनी पड़ती थी। इस तरह की विवशता के बाद भी वे हमेशा लिखने-पढ़ने में ही अपना पूरा समय व्यतीत करते थे। सम-सामयिक विषयों पर उनके साथ लम्बी चर्चा करना हमेशा मेरे लिए लाभदायक होता था। दान सिंह रौतेला का जन्म 20 जुलाई 1946 को बागेश्वर जिले की कमस्यार पट्टी के नरगोली गाँव में हुआ था। उनकी माँ का नाम हीरा देवी रौतेला व पिता का नाम बहादुर सिंह रौतेला था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के ही स्कूल में हुई। उसके बाद देवतोली जूनियर हाई स्कूल से 1956 में उन्होंने आठवीं तक शिक्षा प्राप्त की। आगे शिक्षा के लिए वे बेरीनाग पहुँचे और वहाँ के हायर सेकेन्डरी स्कूल से 1961 में हाई स्कूल व राजकीय इंचर कॉलेज अल्मोड़ा से 1963 में साइंस विषय से इंटर किया। उसके बाद उच्च शिक्षा के लिए वह नैनीताल पहुँचे। जहाँ ठाकुर देव सिंह बिष्ट राजकीय महाविद्यालय से उन्होंने 1965 में बीएससी और 1967 में कैमैस्ट्री से एमएससी की डिग्री प्राप्त की। एमएससी में उत्तराखण्ड के पूर्व मुख्य सचिव रहे डॉ. आरएस टोलिया उनके सहपाठी थे। जीवन पर्ययन्त
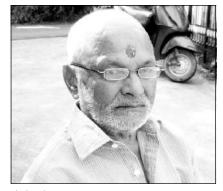
दोनों के बीच काफी घनिष्ठता रही।

एमएससी करने के बाद टोलिया जहाँ प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी में लग गए, वहीं बाल्यकाल में ही अपने पिता बहादुर सिंह रौतेला को खो चुके दान सिंह रौतेला ने आजीविका के लिए अध्यापन की ओर रुख किया और संविदा के आधार पर प्रवक्ता पद पर उनकी नियुक्ति राजकीय इंटर कॉलेज पुरोला (उत्तरकाशी) में हुई। बाद में संविदा पर ही दान सिंह रौतेला ने राजकीय इंटर कॉलेज लोहाघाट व राजकीय इंटर कॉलेज चिन्यालीसौड़ (उत्तरकाशी) में 1970 तक प्रवक्ता पद पर नौकरी की। इसके बाद उन्होंने अल्मोड़ा से 1971 में आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत बीएड किया। उसके बाद जुलाई 1971 में जनता जूनियर हाई स्कूल में संस्थापक प्रधानाचार्य बने। बाद में यह इंटर कॉलेज बन गया। वे भी तत्कालीन नियमानुसार जनता इंटर कॉलेज के प्रधानाचार्य बन गए और जब वह 1985 में राजकीय इंटर कॉलेज बना तो दान सिंह रौतेला का तबादला ज्योलीकोट (नैनीताल) के राजकीय इंटर कॉलेज में हुआ। जूनियर हाई स्कूल के अध्यापक से अपना अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया और गौलापार-हल्द्वानी के राजकीय जनता इंटर कॉलेज दौलतपुर को जूनियर हाई स्कूल से इंटर तक पहुँचाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। दौलतपुर इंटर कॉलेज में बहुत से लोग ऐसे भी रहे जहाँ पहले पिता को और बाद में पुत्र को भी उन्होंने पढ़ाया। वे हमेशा बच्चों को मार्गदर्शन देने के लिए तैयार रहते थे। बाद में वह पदोन्नत होकर माध्यमिक शिक्षा के अपर निदेशक पद तक पहुँचे और इस पद से ही 2007 में सेवानिवृत्त हुए।

दान सिंह रौतेला की पढ़ने के साथ ही लेखन में भी रुचि रही। उनके निजी पुस्तकालय में विभिन्न विषयों की 1,000 से अधिक पुस्तकें हैं। उन्होंने हिन्दी, कुमाउनी व अंग्रेजी में कई कविताएँ भी लिखी। त्रिभाषा कविताओं का 'प्रयास' नाम से एक संकलन भी उनका प्रकाशित हुआ। कई विषयों पर हिन्दी व कुमाउनी में लेख भी उन्होंने लिखे जो अमर उजाला, युगवाणी, उत्तर उजाला, पिघलता हिमालय, संदेश सागर, दैनिक जागरण, पहरु और कुमगढ़ आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुए। कालाढूँगी रोड में पिघलता हिमालय का कार्यालय भी वरिष्ठ पत्रकार व कहानीकार रहे आनन्द बल्लभ उप्रेती जी के समय और बेस अस्पताल के सामने संदेश सागर का कार्यालय भी कभी उनकी वैचारिक बैठकी के अड्डे होते थे।

सामाजिक सरोकारों से जुड़ने के लिए उन्होंने रौतेला ग्लोबल के नाम से एक संस्था की गठन भी किया था जिसके माध्यम से पैत्रिक गाँव नरगोली (कमस्यार पट्टी), जिला बागेश्वर व कमस्यार घाटी के और भी कई दूसरे गाँवों में फलदार पौधों की कई साल तक निःशुल्क वितरण 'हरित गाँव-फलित गाँव' के तहत किया। इसके अलावा आर्थिक तौर पर कमजोर परिवारों के बच्चों को कई विद्यालयों में निःशुल्क यूनिफार्म व स्वेटर का वितरण भी किया। देवतोली (कमस्यार घाटी-बागेश्वर) इंटर कॉलेज के हाई स्कूल व इंटर के मेधावी छात्रों को भी पिछले कई वर्षों से आर्थिक सहायता रौतेला ग्लोबल सोसायटी के माध्यम से दी जा रही थी। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने गाँव के लोगों को एकसूत्र में बांधने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लगभग 77 वर्षीय दानी दा के चले जाने से खुद को बहुत अकेला महसूस कर रहा हूँ। एक वही तो थे जिन्हें मैं बेझिझक अपने मन की व्यथा कह सकता था और वे बहुत ध्यान से उसे सुनते भी थे। बाद में उचित मार्गदर्शन भी करते थे। आपकी कमी मेरे जीवन में हमेशा बनी रहेगी। आपको भावपूर्ण नमन दा! ●

सादगी से परिपूर्ण नेता थे बचदा

❒ रीता खनका

आज पूरी राजनीति छल, कपट, झूठ-फरेब पर आधारित होने लगी है और नेताओं के प्रति भी आमजन में वह सम्मान नहीं रह गया है, जो पहले होता था। राजनीति के हर रोज बिगड़ते चेहरे के इस दौर में पूर्व केन्द्रीय राज्य मन्त्री बच्ची सिंह रावत 'बचदा' की सादगी और सरलता हर किसी को अपनी ओर आकर्षित करती थी। वे अपनी पार्टी के लोगों से जिस तरह मिलते थे, उसी तरह वे विपक्ष के लोगों से भी मिलते थे। अपने इसी सरल स्वभाव के कारण वे आमजन में बचदा के नाम से लोकप्रिय थे। ऐसे सरल स्वभाव के बचदा का गत 18 अप्रैल 2021 को लम्बी बीमारी के बाद ऋषिकेश के एम्स में निधन हो गया।

उत्तराखण्ड में लगभग दो दशक की लम्बी राजनैतिक पारी खेलने वाले बचदा का जन्म अल्मोड़ा जिले के रानीखेत तहसील के पाली गाँव में एक अगस्त 1949 को हुआ। उनकी माँ की नाम पार्वती देवी और पिता का नाम नारायण सिंह रावत था। बचदा की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के ही स्कूल में हुई। उच्च शिक्षा उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से ली और वहाँ से अर्थशास्त्र में एमए किया। उसके बाद बचदा ने लखनऊ विश्वविद्यालय ने एलएलबी की शिक्षा प्राप्त की और अल्मोड़ा में वकालत करने लगे।

बचदा जब चुनावी राजनीति में 1991में उतरे तो उन्होंने फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे पहली बार 1991 में उत्तर प्रदेश की विधानसभा के लिए रानीखेत से भाजपा के विधायक बने और फिर अगस्त 1992 में उप राजस्व मन्त्री भी। वे इस पद पर केवल चार महीने ही रह पाए, क्योंकि दिसम्बर 1992 में भाजपा की उत्तर प्रदेश सरकार बर्खास्त कर दी गई थी। उसके बाद 1993 में हुए विधानसभा चुनाव में बचदा एक बार फिर से रानीखेत से भाजपा के विधायक निर्वाचित हुए। पर इस बार भाजपा को विपक्ष में बैठना पड़ा।

लोकसभा के 1996 में हुए चुनाव में भाजपा ने काँग्रेस के कद्दावर नेता हरीश रावत के सामने बचदा को अपना प्रत्याशी बनाया। बचदा ने हरीश रावत को हरा कर एक नया इतिहास रच डाला। इसके साथ ही वे राज्य की राजनीति से दिल्ली (केन्द्र) की राजनीति में सक्रिय हो गए। उसके बाद 1998 व 1999 में लगातार दो बार लोकसभा के मध्यावधि चुनाव हुए और भारतीय जनता पार्टी ने हर बार उन पर विश्वास जताया और बचदा हर बार पार्टी के विश्वास पर खरे उतरे। इसमें दिलचस्प तथ्य यह है कि उन्होंने हर बार काँग्रेस के दिग्गज नेता हरीश रावत को ही चुनाव में मात दी। इस दौरान 1996 से 1997 तक वे लोकसभा की कई समितियों के सदस्य रहे। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली 1999 से 2004 तक चली सरकार में वे पहले रक्षा राज्य मन्त्री और फिर विज्ञान व प्रौद्योगिकी राज्य मन्त्री रहे।

इस बीच 9 नवम्बर 2000 को उत्तराखण्ड अलग राज्य बन गया। उत्तराखण्ड के पहले मुख्यमन्त्री नित्यानन्द स्वामी बने। जब हटाया गया तो उनके उत्तराधिकारी के तौर पर प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजयेयी ने बचदा को तैयार रहने को कह दिया था। भाजपा में डॉ. मुरली मनोहर जोशी के काफी निकट होने के कारण भी बचदा का मुख्यमन्त्री बनना लगभग तय सा हो गया था। केवल अधिकारिक घोषणा होनी बाकी थी। पर संसदीय बोर्ड की बैठक में संघ के दबाव में भगत सिंह कोश्यारी के नाम की घोषणा हो गई। ऐसा इसलिए भी हुआ कि बोर्ड सदस्यों को न तो वाजपेयी के निर्णय के बारे में कोई जानकारी थी और न उन्होंने इस पर निर्णय लेने से पहले वाजपेयी की राय जानी। इसी चूक से बचदा मुख्यमन्त्री न बन सके।

लोकसभा के 2004 में हुए चुनाव में भी भाजपा ने एक बार फिर से बचदा पर ही विश्वास जताया। बचदा से लगातार तीन बार लोकसभा चुनाव हार चुके हरीश रावत इस बार उनसे मुकाबले की हिम्मत नहीं जुटा पाए। उन्होंने अपनी पत्नी रेणुका रावत को काँग्रेस का उम्मीदार बनवाया पर हरीश रावत का यह दाँव भी बेकार गया और बचदा एक बार फिर से अल्मोड़ा लोकसभा सीट को भाजपा की झोली में डालने में सफल हुए। दो विधानसभा चुनाव और उसके बाद चार लोकसभा चुनावों में जीत दर्ज कर बचदा ने उत्तराखण्ड की राजनीति में एक नया इतिहास रच डाला।

इस चुनाव में भाजपा की हार हुई और केन्द्र में काँग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) की सरकार बनी। बचदा के राजनैतिक कद को देखते हुए भाजपा ने 2007 में उन्हें उत्तराखण्ड का प्रदेश अध्यक्ष बनाया। इस दौरान विधानसभा और लोकसभा सीटों के फिर से परिसीमन होने के कारण अल्मोड़ा लोकसभा सीट अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित हो गई तो बचदा ने 2009 के लोकसभा चुनाव में नैनीताल लोकसभा सीट से दावेदारी की तो भाजपा नेतृत्व ने उन्हें निराश नहीं किया और वे भाजपा प्रत्याशी बने। इस बार उन्हें काँग्रेस के बाबा केसी सिंह से हार का सामना करना पड़ा।

इसके साथ ही बचदा हल्द्वानी के निवासी हो गए। उन्होंने अपनी राजनैतिक सक्रियता लगातार नैनीताल सीट पर बनाए रखी पर 2014 के चुनाव में भाजपा ने उनकी मजबूत दावेदारी को खारिज कर दिया और पूर्व मुख्यमन्त्री भगत सिंह कोश्यारी को प्रत्याशी बना दिया। इससे नाराज बचीदा ने नैनीताल सीट पर चुनाव प्रचार नहीं किया और पार्टी के सभी पदों से त्यागपत्र दे दिया। पर वे भाजपा में ही बने रहे। कोश्यारी भारी बहुमत से काँग्रेस के केसी सिंह बाबा को हरा कर सांसद बने। राजनीति में रहकर भी 'ना काहू से दोस्ती और ना काहू से बैर' की नीति पर चलने वाले बचदा अपने पीछे पत्नी चम्पा रावत व बेटे शशांक को शोकाकुल छोड़ गए हैं। ●

इतिहासवेत्ता शिव प्रसाद नैथानी के दिल में बसता था साहित्य

❒ **गंगा असनोड़ा थपलियाल**

उत्तराखण्ड के इतिहास को प्रोफेसर शिव प्रसाद नैथानी स्वलिखित बारह महत्वपूर्ण पुस्तकों में दर्ज कर अमर हो गए हैं। इतिहास लिखते हुए वे इस राज्य की संस्कृति, साहित्य, तीर्थ स्थलों और पर्यटन के साथ-साथ भूगोल पर भी पैनी निगाह रखते थे। उनके लेखन की सबसे खास बात यह थी कि गहन अध्ययन, मीमांसा, सर्वेक्षण में डूबे इतिहासकार की इतिहास पुस्तकों और बातचीत में साहित्य भी खूब हिलोरें मारता।

स्व. शिव प्रसाद नैथानी का जन्म 26 गते पौष संवत् 1990 विक्रमी यानि वर्ष 1933 में हुआ था, लेकिन विद्यालय में दर्ज 9 जनवरी 1934 ही उनकी आधिकारिक जन्मतिथि हो गई। वे मात्र पाँच वर्ष के थे, जब उनकी माँ चल बसी। शिक्षक पिता ने खूब लाड़ दिया तथा चौथी कक्षा उत्तीर्ण करते ही उन्हें पढ़ाई के लिए फुफेरे भाई बामदेव बड़थ्वाल के साथ भेज दिया, जो फैजाबाद में स्कूलों के सब डिपुटी इंस्पेक्टर हुआ करते थे। कुछ माह बाद ही बड़थ्वाल जी का स्थानान्तरण देहरादून हो गया और फिर कुछ समय बाद पौड़ी। इसलिए नैथानी जी की सातवीं तक की पढ़ाई देहरादून में तथा पौड़ी के मैसमोर इंटर कॉलेज से उन्होंने इंटरमीडिएट प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

सरल, सहृदय होने के साथ ही वे कुशाग्र बुद्धि के विद्यार्थी रहे। इंटरमीडिएट में पढ़ते हुए उन्हें 16 रुपए की स्कॉलरशिप मिलती थी। वे बताते थे कि इसी समय में उन्हें एक ट्यूशन मिला, जिसके 35 रुपए महीना उन्हें मिला करते। हिन्दी उन्हें इतनी भाती थी कि इंटरमीडिएट में वे इस विषय में डिस्टिंक्शन लाए थे, जिससे उन्हें उसी विद्यालय में अप्रशिक्षित शिक्षक के रूप में शिक्षक रख लिया गया। एक शिक्षक के रूप में भविष्य बनाने की प्रेरणा उन्हें यहीं से मिली। जीवन की आपाधापी में प्रो. शिव प्रसाद नैथानी अपना सर्वोत्तम शिखर अपने बूते तैयार करते रहे। उनके रचनात्मक एवं प्रेरणादायी कार्यों को देखते हुए 1963 में तत्कालीन डीआईओएस शंभूनाथ द्विवेदी ने उन्हें एलटी प्रशिक्षण के लिए इलाहाबाद सेंट्रल पेडागॉजिकल इंस्टीट्यूट भेज दिया। इस अवसर ने उनकी जिन्दगी को नई राह दी और 1966 में वे लोक सेवा आयोग से आयोजित परीक्षा उत्तीर्ण कर जीआईसी श्रीनगर में प्रवक्ता पद पर नियुक्त हुए, साथ ही एनसीसी अधिकारी भी।
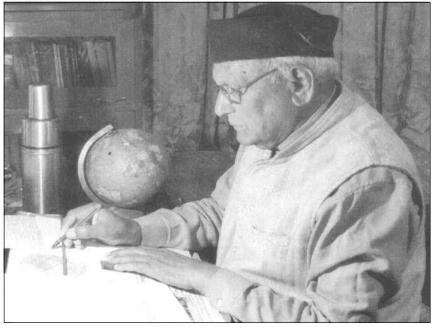
1977 में गढ़वाल विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ शिव प्रसाद नैथानी जी के जीवन में जो टर्निंग प्वाइंट आया, वह उल्लेखनीय है। एक अप्रशिक्षित शिक्षक से शुरू हुआ सफर डिग्री कॉलेज के शिक्षक तक पहुँच गया। यहाँ भी वे एनसीसी अधिकारी नियुक्त हुए। इतिहास के शिक्षक और साहित्य के अगाध लगाव ने उन्हें लेखन के लिए प्रेरित किया। उनकी यह अभिरुचि उन्हें उत्तराखण्ड के साहित्य, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, पर्यटन क्षेत्रों तथा धार्मिक स्थलों के प्रति निर्बाध लेखन कार्य कराती रही। उसका प्रतिफल उनकी पत्नी के नाम पर शुरु किए गए 'पवेत्रा प्रकाशन' से प्रकाशित महत्वपूर्ण 12 पुस्तकें हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें 'गढ़वाल के संस्कृत अभिलेख,' 'उत्तराखण्ड: संस्कृति, साहित्य और पर्यटन,' 'गढ़वाल के प्रमुख तीर्थ,' 'उत्तराखण्ड के तीर्थ और मन्दिर,' 'उत्तराखण्ड श्रीक्षेत्र-श्रीनगर', 'उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूगोल,' 'ब्रह्मपुर और सातवीं सदी का उत्तराखण्ड,' 'उत्तराखण्ड का सांस्कृतिक इतिहास, भाग-1,' 'उत्तराखण्ड का सांस्कृतिक इतिहास, भाग-2,' 'उत्तराखण्ड गाथाओं के रहस्य,' 'गोपेश्वर-मण्डल क्षेत्र की इतिहास को देन' है। 'देवलगढ़ का इतिहास: अजयपाल से हेमवती नंदन बहुगुणा तक' का उन्होंने सफल संपादन किया। जबकि अंतिम पुस्तक 'उत्तराखण्ड, गढ़वाल की संस्कृति, इतिहास और लोक साहित्य' पुस्तक विनसर पब्लिकेशन देहरादून द्वारा हाल ही में प्रकाशित हुई है।

कोरोनाकाल ने इस पुस्तक के विमोचन का कार्यक्रम न होने दिया। स्व. मोहन नैथानी इसके विमोचन की तैयारियों में जी-जान से जुटे थे कि पिता शिव प्रसाद नैथानी मार्च माह में अत्यधिक बीमार हो गए। प्रोस्टेट की समस्या बहुत बढ़ गई थी। ऑपरेशन कराना भी डॉक्टरों ने उचित नहीं समझा। हाँ! पेशाब की थैली परमानेंट लग गई थी। ऐसी परिस्थिति में जवान बेटे की असमय मौत का वज्रपात वे कैसे सहन कर पाते? बेटे स्व. मोहन नैथानी की दु:खद मौत ने उन्हें ऐसा घाव दिया कि बीस दिन बाद ही वे इस लोक से गमन कर गए। विनम्र श्रद्धांजलि! ●

राज्य गठन के दो दशक बाद भी गढ़वाली के परिजनों को नहीं मिली पहचान

❒ विजय भट्ट

पेशावर कांड के नायक वीर चंद्र सिंह गढ़वाली को भला कौन नहीं जानता। लेकिन राज्य गठन के दो दशक बाद भी गढ़वाली के परिजनों को उत्तराखण्ड में पहचान नहीं मिल पाई है। जो गढ़वाली कभी अंग्रेजों के सामने भी नहीं झुका आज उसके ही परिजन लीज की जमीन पर झोपड़ी में दिन गुजारने को मजबूर हैं। लेकिन अभी तक हम उन्हें उत्तराखण्ड में न तो भूमि ही उपलब्ध करा पाए और न ही उत्तर प्रदेश की सीमा में उनकी लीज की जमीन का नवीनीकरण कराने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार पर कोई दबाव बना पाए।

वीर चंद्र सिंह गढ़वाली का पैतृक गाँव पौड़ी गढ़वाल के थलीसैंण का पीटसैण मासौ है। एक अक्तूबर 1979 को गढ़वाली के निधन के बाद उनके दोनों बेटे आंनद सिंह और कुशलचंद कोटद्वार भाबर क्षेत्र में आ गए थे। उस समय यूपी सरकार की ओर से उन्हें 10 एकड़ जमीन कोटद्वार भाभर क्षेत्र के हल्दूखाता में लीज पर दी गई थी, पर लीज की समयावधि समाप्त होने के बाद यह पुन: नवीनीकृत नहीं हो सकी। कुछ समय बाद आनंद सिंह और कुशलचंद का भी निधन हो गया। उसके बाद उनके परिजन वहीं रहते हैं। राज्य गठन के बाद जो जमीन चन्द्र सिंह गढ़वाली को दी गई थी, वह हिस्सा उत्तर प्रदेश में चला गया।

चन्द्र सिंह गढ़वाली के पोत्र देशबन्धु ने लीज के नवीनीकरण के लिए बिजनौर वन प्रभाग में प्रार्थना पत्र भी दिया किन्तु लीज को नवीनीकृत करने के बजाय बिजनौर वन प्रभाग ने उन्हें वहाँ से बेदखल करने का नोटिस जारी कर दिया। इसकी सूचना देशबन्धु ने उत्तराखण्ड की सरकारों से भी कई मर्तबा की किन्तु उन्हें अब तक आश्वासन के अलावा कुछ भी हासिल नहीं हुआ है। फिलहाल स्थिति जस की तस है और चन्द्र सिंह गढ़वाली के परिजन विभागों के चक्कर काटने को मजबूर हैं।

राज्य गठन के बाद उत्तराखण्ड में भले ही वीर चन्द्र सिंह गढ़वाली के नाम पर कई योजनाएँ चलाई गई, कई संस्थानों के नाम उनके नाम पर रखे गए, लेकिन गढ़वाली के परिजनों की किसी ने सुध नहीं ली। 23 अप्रैल को पेशावर कांड के रूप में गढ़वाली को हर वर्ष याद किया जाता है और बड़ी-बड़ी बातें कही जाती है लेकिन गढ़वाली के परिजन आज भी मूलभूत सुविधाओं के लिए जूझ रहे हैं। यूपी की सीमा से लगे होने के कारण उनका घर बिजनौर वन प्रभाग के अन्तर्गत आता है।

चन्द्र सिंह गढ़वाली के परिजनों का कहना है कि घर के पास ही जंगली जानवरों का खतरा भी बना रहता है। कोटद्वार में होकर भी हम कोटद्वार और उत्तराखण्ड की सुविधाओं को नहीं ले पा रहे हैं। उन्होंने यूपी और उत्तराखण्ड सरकार से मदद की गुहार लगाई है।
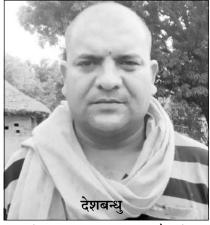
देशबन्धु

वीर चंद्र सिंह गढ़वाली के नाती देशबंधु गढ़वाली ने बताया कि चूंकि उनके पास लीज की जमीन है लिहाजा वह उस जमीन पर स्थाई आवास नहीं बना सकते। अभी लीज की जमीन का नवीनीकरण भी नहीं हुआ है और इसी वजह से आज उनका परिवार झोपड़ी में रहने के लिए मजबूर है।

इसे बिडम्बना ही कहा जाएगा कि जिस चन्द्र सिंह गढ़वाली ने 1930 में पेशावर में पठानों के ऊपर गोली चलाने से मना करने का ऐतिहासिक काम किया था, जो हमारे स्वतंत्रता के इतिहास में बहुत गौरव के साथ दर्ज है, उसी चन्द्र सिंह गढ़वाली का परिवार आज घास-फूस की झोपड़ी में रहने के लिए अभिशप्त है। आजादी के बाद पूर्व प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने उनको रहने के लिए न केवल जमीन ही दी थी बल्कि वह गढ़वाली की कुशल-क्षेम भी लगातार लेते थे। नेहरू के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी चन्द्र सिंह गढ़वाली के संपर्क में निरन्तर रहीं और समय-समय पर उन्हें मदद भी मिलती रही। 1984 में गढ़वाली के नाम से डाक टिकट भी जारी किया गया था। आज जबकि उत्तराखण्ड राज्य को बने हुए 20 वर्ष हो चुके हैं, उसके बावजूद भी स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास की उस महान विभूति के परिजनों की सुध लेने वाला उन्हीं के राज्य में कोई नहीं है। ●

देहरे में पिकेटिंग-1930
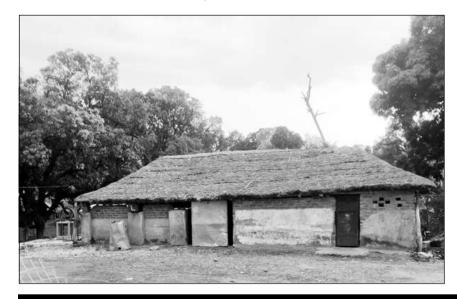
सुनील भट्ट

अगर हम देहरादून में आजादी की लड़ाई की बात करें, तो 1930 का साल एक महत्वपूर्ण मुकाम रखता है। गाँधीजी का दांडी मार्च क्या हिट हुआ, नमक के सहारे ब्रिटिश सरकार का विरोध शहर-शहर, जिले-जिले लोकप्रिय हो गया। हिंदुस्तान-भर में लोगों ने अपने-अपने दांडी-मार्च निकालने शुरू कर दिये। देहरादून ने भी खाराखेत तक अपना दांडी मार्च निकाला, और खूब शान से निकाला। यह सिलसिला अप्रैल-मई तक चला। नतीजा यह हुआ कि देहरादून के लगभग सभी प्रमुख नेतागण अगले छह महीने के लिए जेल पहुँच गए। पर सत्याग्रह नहीं रुका। एक राह बंद हुई, तो दूसरी खुल गई। तब प्रशासन ने जाना कि देहरे का दम क्या है। नमक आंदोलन के अलावा विरोध का जो तरीका यहाँ लोकप्रिय रहा, वह था, पिकेटिंग। पिकेटिंग-सिगरेट की, शराब की और विदेशी कपड़ों की।

उन दिनों पल्टन बाजार में अहमद जान नाम का एक सिगरेट विक्रेता था। उसकी दुकान प्रदर्शनकारियों का पहला बड़ा अड्डा बनी। 29 जून को उसे काँग्रेस कार्यकर्ताओं की ओर से एक चिट्ठी मिली कि अगर उसने सिगरेट बेचनी बंद नहीं की, तो उसकी दुकान के आगे पिकेटिंग की जाएगी। उसने चिट्ठी को कोई तवज्जो नहीं दी और अगले दिन सुबह 8 बजे छह स्वयंसेवकों ने उसकी दुकान को घेर लिया। दिन-भर पिकेटिंग चली और उसकी कोई बिक्री नहीं हुई। पहली जुलाई को उसने पुलिस में शिकायत कर दी। शाम को जब पुलिस आई तो देखा 18-20 स्वयंसेवक धरना दे रहे थे। कोतवाल ने उन्हें रोका और वहाँ से जाने को कहा, पर वे अड़ गए। सो उसने गिरफ्तारी शुरू कर दी। गिरफ्तारी शुरू होनी थी कि भगदड़ मच गई। जो पुलिस के हाथ आया, धर लिया गया। कुछ तमाशबीन भी पकड़े गए। जब वे अदालत में पेश हुए, तब सच सामने आया। बनवारी दास नाम के एक तमाशबीन ने बताया कि वह तो बगल वाली दर्जी की दुकान में धागा लेने गया था। उसके समर्थन में दर्जी ने गवाही दी और वह जेल जाने से बच गया। पर गोपीचन्द नाम का तमाशबीन नहीं बच सका। उसने बताया कि जब कांस्टेबल ने उसे गिरफ्तार किया, उस समय वह अपनी बीमार बीवी के लिए डॉक्टर को लेने जा रहा था। पर वह अपनी सच्चाई का कोई सबूत नहीं पेश कर पाया। अदालत ने 4 जुलाई को अपना फैसला सुनाया। कौशल और ज्ञान किशन को कम उम्र के चलते 100 रुपये का जुर्माना लगा और गोपीचन्द समेत 13 लोगों को चार माह कठोर कारावास व 100 रुपये जुर्माना की सजा हुई। जुर्माना न देने पर दो माह का अतिरिक कठोर कारावास।

पर उस साल जुर्माना कौन देता, और क्यों देता? आलम यह था कि इधर अदालत में उन पर मुकदमा चल रहा था और उधर उनके अन्य साथी- नैन सिंह, जाहिर सिंह, बद्री प्रसाद और कुलानंद, 2 जुलाई को, उसी दुकान के आगे धरना दे रहे थे। संदेश साफ था- अगर आप आज हमारे एक साथी को गिरफ्तार करोगे तो कल दूसरा उसकी जगह पर खड़ा हो जाएगा। चारों गिरफ्तार हुए और 5 जुलाई को उन्हें 50 रुपये जुर्माना या 2 महीने की सादी कैद की सजा हुई।

उस साल गिरफ्तारियाँ सिर्फ पिकेटिंग के लिए नहीं हुईं, बल्कि उसके लिए माहौल बनाने और उसके समर्थन में दिए भाषणों के लिए भी हुईं। प्रशासन की नजरों में ये सरकार विरोधी हरकतें राजद्रोह की श्रेणी में आती थीं। इसी वजह से बिधोली गाँव के सुंदर लाल गिरफ्तार हुए। हुआ यह कि 11 जून को शहर कोतवाल सरदार दरबारा सिंह ने काँग्रेस की गतिविधियों की खबर लेने के लिए एक कांस्टेबल को मेहुवाला, माजरा, पित्थूवाला और आसपास के गाँवों में भेजा। कांस्टेबल 13 तारीख को रिपोर्ट लाया। रिपोर्ट के अनुसार दो काँग्रेसियों, सुंदर लाल और गोपीनाथ ने 11 जून को माजरा में सवा सौ लोगों की सभा में सरकार के खिलाफ भाषण दिया। उन्होंने लोगों से सरकार को जमीन, नहर व जंगल के लिए टैक्स न देने के लिए कहा। अगले दिन 12 जून को उन्होंने मेहुवाला में पहले 5 बजे हिन्दूओं की सभा में और फिर 7 बजे मुसलमानों की सभा में भाषण दिया। वहाँ भी उन्होंने लगान बंदी की बात कही। विदेशी कपड़ों के विरोध में तो कुछ यूँ बहे कि उन्होंने इनकी तुलना सन 1857 के चर्बी वाले कारतूस से कर डाली। कहने लगे- विदेशी कपड़े पहनना ऐसा है, जैसे हिन्दू के लिए गौ-मांस खाना और मुसलमान के लिए सूअर का मीट। वहाँ पर करीब 100 लोग उन्हें सुनने आए थे। वे भड़क गए। हंगामा खड़ा हो गया। मार-पिटाई की नौबत आ गई। अगर पुलिस कांस्टेबल मामले को न संभालता, तो बात बिगड़ जाती। पर अदालत ने उनकी इस हरकत को हल्के में लिया और माना कि उनका उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम मतभेद खड़ा करना नहीं था। अदालत ने उन्हें नेकचलनी के सुबूत/भरोसे के तौर पर 500 रुपए के बॉन्ड दो जमानतियों के साथ जमा करने के लिए कहा।

इस बीच पुलिस को खबर मिली कि गढ़ी डाकरा के जुगल किशोर राजपुर में राजद्रोह से भरे भाषण दे रहे हैं। सो पुलिस का एक नायक जाँच के लिए भेजा गया। इधर 1 जुलाई को जुगल किशोर ने 16 लोगों की भीड़ के आगे भाषण दिया और उधर उनकी गिरफ्तारी का वारंट निकल गया। उनके भाषण की लिखित रिपोर्ट अदालत में पेश हुई। रिपोर्ट का समर्थन करने के लिए राजपुर का मुखिया और एक दुकानदार पेश किए गए। अदालत ने माना कि जुगल किशोर ने लोगों को विदेशी वस्त्रों के खिलाफ भड़काया और विदेशी कपड़ों की तुलना सन 1857 के चर्बी वाले कारतूस से की। उन्होंने इन कपड़ों में गाय के अंग इस्तेमाल होने की बात की और कहा कि इन्हें रंगने में जानवरों का खून इस्तेमाल किया जाता है। जाहिर है, जुगल

किशोर की ये बातें या तो नासमझी के चलते थीं, या ज्यादा जोश में आकर किया गया अनर्गल प्रलाप। चूंकि पिछले एक महीने से वे इस तरह के भाषण दे रहे थे, सो अदालत ने उन्हें नेकचलनी के सुबूत/भरोसे के तौर पर 200 रुपए के बॉन्ड साल भर के लिए 200 रुपये की जमानतों के साथ जमा करने के लिए कहा। अगर वे ऐसा नहीं करते तो उन्हें एक साल साधारण कैद होनी थी। 18 जुलाई को उन्हें यह सजा सुनाई गई। उन्होंने बॉन्ड नहीं भरे और जेल जाना कबूल किया।

अगस्त महीने में काँग्रेस पार्टी ने तय किया कि डीएवी कॉलेज और एपी मिशन स्कूल की पिकेटिंग की जाए। प्रस्ताव पारित हुआ और 11 अगस्त से पिकेटिंग शुरू हो गई। इस बार स्वयंसेवक थे- रामनाथ दीक्षित, भागवत प्रसाद, महेशानन्द, राम मोहन रॉय और हाराधन बैनर्जी। राम नाथ दीक्षित डीएवी कॉलेज का पुराना क्लर्क था। बाकी चारों 22 साल से कम उम्र के विद्यार्थी थे। ज्यादा जोर मिशन स्कूल पर रहा। अधिकतर प्रदर्शनकारी वहीं जुटे। साथ में कुछ महिलाएं भी आईं। वे सब रोज सुबह स्कूल खुलने के वक्त गेट के सामने खड़े हो जाते और मास्टरों व बच्चों को अंदर जाने से रोकते। हालात यह थे कि स्कूल प्रशासन को बार-बार छुट्टी करनी पड़ रही थी। वहाँ के टीचर इस पिकेटिंग से इतने नाराज हुए कि उन्होंने खुद अदालत में स्वयंसेवकों के खिलाफ गवाही दी। मिशन स्कूल का चौकीदार भी सरकारी गवाह बना। अदालत का मानना था कि अगर कोई इंसान सही काम कर रहा है, तो उसे रोकना गलत है। स्वयंसेवकों ने स्कूल के टीचर और बच्चों को रोककर गलत काम किया, जिसकी उन्हें सजा मिलनी चाहिए। सजा मिली-तीन महीने का कठोर कारावास और 50 रुपए जुर्माना या एक माह अतिरिक्त कठोर कारावास।

इसके अलावा पिकेटिंग शराब की दुकानों के आगे भी हुई। इसकी शुरुआत जून महीने में हो चुकी थी- ओरिएंट सिनेमा के पास। इस बाबत डोईवाला में कई धरने हुए। उन दिनों वहाँ कृपाराम नाम का एक शख्स अधिकृत शराब विक्रेता था। गाँधीजी के कहने पर डोईवाला के नेताओं ने शराबबंदी की अलख जगाई हुई थी। इससे कृपाराम बहुत दुखी था। दो-तीन महीने तक उसकी दुकान के आगे पिकेटिंग चली। जब वह इससे नहीं माना, तो पंचायत ने उसका सामाजिक बहिष्कार कर दिया। इससे वह घबरा गया। उसने पंचायत के सामने वादा किया कि वह शराब बेचना बंद कर देगा, सो उसका सामाजिक बहिष्कार बंद हुआ। पर कुछ दिनों बाद लोगों को शक होने लगा कि कृपाराम वायदे के बावजूद शराब बेचना जारी रखे हुए है। 19 जुलाई को उसकी चोरी पकड़ी गई। दो स्वयं-सेवकों ने उसके सेल्समैन के बेटे को दुकान से चोरी-छुपे शराब की बोतल ले जाते हुए देखा। जब लड़के ने देखा कि उसका पीछा किया जा रहा है, तो वह बोतल वहीं छोड़कर भाग गया। स्वयंसेवकों ने बोतल ली और श्याम लाल के पास पहुँच गए। उन्हें कृपाराम के खिलाफ पुख्ता सबूत मिल चुका था। श्यामलाल बोतल लेकर कृपाराम के पास पहुँचा, पर उसने बोतल लेने से इंकार कर दिया। ऊपर से वह थाने पहुँच गया, शिकायत करने। शाम तक पुलिस आई और काँग्रेसियों को कृपाराम का खेल समझ आ गया। सब-इंस्पेक्टर ने देखा कि वहाँ सड़क पर दो-तीन बोतलें टूटी पड़ी हैं। कृपाराम ने पुलिस को बताया कि वह एक दिन पहले, यानि 18 जुलाई को, देहरे के सरकारी गोदाम से चार गैलन शराब लाया था। जब सुबह-सुबह उसका सेल्समैन रेतुमल बोतलें भर रहा था, तो कुछ काँग्रेसी वहाँ पहुँच गए और हंगामा करने लगे। उसने 6-8 बोतलें भरकर रखीं थी। उन्होंने वे बाहर लाकर सड़क पर लाकर पटक दीं। कृपाराम ने पुलिस को बताया कि एक बोतल श्यामलाल के पास है। जब पुलिस सब-इंस्पेक्टर श्यामलाल के पास गया तो उन्होंने उसे वह बोतल दे दी और मामले का दूसरा हाल सुनाया। उन्होंने बताया कि जब हम सुबह कृपाराम से उसके वायदे तोड़ने के बारे में बात कर रहे थी, तभी रेतुमल (सेल्समैन) कुछ बोतलें लेकर दुकान से बाहर आया और उसने ही जानबूझ कर ये बोतलें दुकान के आगे फेंकी, ताकि हम पर झूठा आरोप लगा सके- ये सब कृपाराम की चाल थी, हमें फसाने की। पर सब-इंस्पेक्टर ने उनकी एक न सुनी और श्यामलाल के साथ-साथ ज्ञानचंद, ईश्वरचंद, नत्थूराम, और हीरालाल को गिरफ्तार कर अदालत में पेश कर दिया। अदालत में इन्होंने अपनी सफाई में कुछ गवाह (बेनी प्रसाद और कलम सिंह) पेश किए। उन्होंने भी कृपाराम के सामाजिक बहिष्कार और उसके झूठे वादे की बात बताई। परंतु वे दोनों काँग्रेसी थे इसलिए अदालत ने उनकी कहानी को मानने से इंकार कर दिया। अदालत ने कई तर्क देकर इस सामाजिक बहिष्कार की बात को खारिज किया और 8 अगस्त 1930 को पाँचों को तीन महीने कठोर कारावास की सजा सुनाई।

जब तक ये पाँचों जेल में रहे, कृपाराम की दुकान आराम से चलती रही। 18 अक्तूबर को सजा पूरी हुई और 20 तारीख से पिकेटिंग शुरू हो गई। इस बार जेल जाने की बारी बेनी प्रसाद, कलम सिंह और पूर्णानन्द की थी। ये दोनों इससे पिछले मुकदमे में अपने साथियों के पक्ष में गवाही दे चुके थे। पिकेटिंग शुरू हुई। फिर कृपाराम शिकायत लगाने पहुँचा, फिर पुलिस उसकी मदद को आई, फिर सत्याग्रही गिरफ्तार हुए। इस बार आरोप यह लगा कि इन तीनों ने ग्राहकों को दुकान में जाने से रोका और ऐसा करके कृपाराम को उसके 'व्यापार करने के न्यायसंगत अधिकार' के वंचित करने की कोशिश की। एफएल स्मिथ, जाइंट मैजिस्ट्रेट, जिन्होंने अगस्त महीने का फैसला सुनाया था, उन्होंने ही इस मामले की सुनवाई भी की। 30 अक्तूबर को उन्होंने फैसले सुनाया।

उसी दिन एफएल स्मिथ ने कृपाराम से संबन्धित एक और मुकदमे का फैसला सुनाया। इस मुकदमे में आरोपी थे- ज्वाला प्रसाद, मोहन लाल (भानियावाला) और आनंददेव। आरोप यह था कि 22 अक्तूबर को जब कृपाराम का सेल्समैन रेतुमल कुछ जरूरी सामान लेने के लिए देहरे जा रहा थे, तो उन्होंने उसे जाने नहीं दिया। एक्साइज इंस्पेक्टर, जो उस वक्त वहीं मौजूद था, उसने भी उन्हें रोका, पर वे नहीं माने। उन्होंने जबर्दस्ती रेतुमल को लॉरी से उतार दिया। जब वह दुबारा लॉरी में बैठा तो ये लोग गाड़ी के सामने खड़े हो गए, उसके आगे लेट गए। सो मजबूरी में रेतुमल को अपना देहरे जाना मुल्तवी करना पड़ा। **(शेष पृष्ठ 39 पर)**

राजेश सकलानी

दो स्मृतियों के बीच

फिलिस्तीन के मशहूर कवि महमूद दरवेश (1941-2008) का कथन है कि फिलिस्तीन और इजराइल के बीच संघर्ष 'दो स्मृतियों के बीच का संघर्ष है।' बिडम्बना है कि फिलिस्तीन देश को उसके देश से ही विस्थापित कर दिया गया है।

वे सिर्फ सात साल के थे जब यहूदी बस्ती बसाने के लिए इनको अपने परिवार के साथ विस्थापित होना पड़ा। यह अस्थिरता बनी रही। वे लेबनान, साइप्रस, ट्यूनीशिया, जॉर्डन और फ्रांस में रहे। छब्बीस साल के निर्वासन के बाद वापस (1996) इजराइल अपने गाँव में वापस आए। वे रमल्ला में रहने लगे लेकिन 2002 में फिर युद्ध हो गया।

महमूद दरवेश की कविता एक पीड़ित और विस्थापित समाज का प्रतिरोध है। इसमें छटपटाहट है, न्याय की स्थापना की अपील है लेकिन प्रतिशोध नहीं है। सैन्य शक्ति के बल पर किसी व्यक्ति या समाज को उसकी जमीन से बेदखल करना और अपमानित करना क्या किसी भी मनुष्य को जायज लग सकता है? इस यन्त्रणा के लिए किसी किन्तु या परन्तु की गुंजाइश नहीं है। यह सीधे तौर पर अनैतिक और अमानवीय है।

प्रसंगवश इजरायल के हिब्रू में लिखने वाले महान कवि यहूदा अमिशाई Yehuda Amichai (1924-2000) की रचनाओं को याद कर सकते हैं। हिब्रू में लिखने वाले वह शुरुआती आधुनिक कवियों में सबसे बड़े कवि हैं और विश्व में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही है। यह भी गौर करने लायक है कि दोनों कवि एक दूसरे की बहुत इज्जत करते थे। दोनों कवि यथार्थ की जमीन पर लिखने वाले और अपने समाज की आकांक्षाओं और पीड़ा को व्यक्त करने वाले कवि हैं। एक बहुत ही अव्यवहारिक लेकिन सादगी भरा सवाल मन में आता है कि साहित्यकार, कलाकार या गायक-संगीतकार जैसे लोग क्यों नहीं दुनिया की राजनीति को प्रभावित करने की स्थिति में आ पाते? सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों की समझ उनमें पर्याप्त होती है। उनकी केन्द्रीय शक्ति प्रेम और सद्भाव पर आधारित होती है और नफरत की क्रूरता से वे भली-भांति परिचित होते हैं।

येरूशलम ईसा से तीन हजार साल पुराना नगर है जो अब इजराइल की राजधानी है। यह तीन धर्मों का महत्वपूर्ण पवित्र स्थल है। यहूदी, इसाई और इस्लामी धर्मों की आस्था इससे जुड़ी है। इसके नियन्त्रण को लेकर अभी फिलिस्तीन और इजराइल के बीच युद्ध हुआ और अब युद्ध विराम की घोषणा की गई है। इस शहर पर यहूदा अमीशाई की कविता 'येरूशलम' का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है।
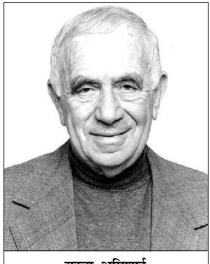
यहूदा अमिशाई

'प्राचीन शहर की छतों पर
धुले कपड़े सूखते हैं सांझ की धूप में

सफेद चादर एक स्त्री की
जो मेरी शत्रु है
तौलिया एक मर्द का
जो मेरा शत्रु है
अपने भौंह का पसीना पोंछने को

प्राचीन शहर के आसमान पर
एक पंतग
दूसरे सिरे पर डोर पकड़े
एक बच्चा
मैं देख नहीं पाता जिसे
दीवार की वजह से

हम फहराते हैं बहुत सारे झंडे
वे फहराते हैं बहुत सारे झंडे
वे हमें दिखलाते हैं कि
वे बहुत खुश हैं
हम उन्हें दिखलाते हैं
हम बहुत खुश हैं।'

इजराइल आधुनिकतम हथियारों से लैस सैन्य शक्ति है तो यह न माना जाए कि युद्ध में कोई विजयी होता है। मनुष्य का बेवजह बहाया गया खून किसी को चैन से नहीं रहने देता।

महमूद दरवेश के लिए प्रेम और मातृभूमि

एक ही चीज है। हल्द्वानी के अशोक पाण्डे के अनुवाद से उनकी एक कविता:-

फिलिस्तीन की एक प्रेमिका

फिलिस्तीन है उसकी आँखें
फिलिस्तीन है उसका नाम
फिलिस्तीन है उसकी पोशाक
और उसका दुख, उसका रुमाल
उसके पैर और उसकी देह फिलिस्तीन
फिलिस्तीन है उसकी आवाज
उसका जन्म और
उसकी मृत्यु फिलिस्तीन।

अपने देश में पीड़ित फिलिस्तीनी मनुष्य की यातना की उपेक्षा करते बहुत लोगों को देखा गया। उसके विपरीत इजराइल की शक्ति और बदला लेने की क्षमता को सराहा गया है। हिंसा के प्रति यह प्रेम बहुत बुरे संकेत हैं।

आत्मरक्षा जीवित प्राणियों का मुख्य गुण है। यह हमारी कोशिकाओं में मूल रूप से टंकित है। यह समूह में भी गतिशील होता है। सामाजिक संरचना का प्रमुख तत्व है लेकिन मनुष्य सिर्फ प्रतिहिंसा पर ही आश्रित नहीं होना चाहिए। विज्ञान, कला, साहित्य, संगीत, विचार जैसे गुण हिंसा और प्रतिहिंसा के विचार को आसानी से अतिक्रमित करते हैं। सहयोग और सहकारिता को प्रशस्त करते हैं। भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों के सबसे खराब दौर में भी संगीत, कला, खेल भावना की धारा का प्रवाह सीमा के आर-पार जारी रहता है। इसके बरक्स सत्ता लोलुपता, स्वार्थ और हिंसा की भावना पैरानोई जैसे मनोरोग पैदा करती है। ईश प्रेम और राष्ट्र प्रेम सिर्फ छद्म रह जाता है। मन में सद्भाव की जगह काल्पनिक शत्रु वास करने लगता है और अन्त में वही संचालक हो जाता है। पेड़ों और बादलों की छाया भी भूत की तरह मस्तिष्क पर छा जाती है। ऐसा व्यक्ति या समाज अपने ही पैदा किए दुस्वप्नों का शिकार हो जाता है।

यूं तो जीवन में द्वन्द अनिवार्य है। दो स्थितियों के बीच, दो वर्गों के बीच और न्याय तथा अन्याय के बीच। जीवन की गतिशीलता इस टकराहट से संचालित होती है लेकिन जो चीज स्थिर है, वह यह विचार है कि यह पृथ्वी सभी के लिए है और सभी मनुष्यों को समान रूप से जीने का अधिकार है। लेकिन जाति-धर्म की नफरत इस विचार

महमूद दरवेश

का अतिक्रमण करती है। जाति-धर्म स्थितिजन्य है लेकिन शास्वत सिर्फ विज्ञान, कला और प्रकृति है। धर्म के नाम पर हम इन तीनों का अतिक्रमण स्वीकार नहीं कर सकते।

फिल्म का एक साधारण गीत मनमोहक धुन में श्रोताओं के मन को समान रूप से प्रमुदित करता है और कुछ समय तक सामाजिक नफरतों और हिंसक प्रवृतियों को पराजित कर देता है। यह एक सामाजिक उत्पाद है और शुभकामनाओं, सदिच्छाओं और लगाव के तत्वों से निर्मित है। इसमें सहकारिता और सामूहिकता का समावेश है। यह द्वन्दहीन नहीं है। इसमें भेदभाव धर्म की तरह बड़बोला, अंहकारी और जनविरोधी नहीं है। यह सांप्रदायिक नहीं है। यह अपनी प्रवृति में सेकुलर है।

असभ्यता का युग

हम अपनी पाठ्य-पुस्तकों में भिन्न प्राचीन सभ्यताओं के बारे में पढ़ते रहे हैं। इसके माध्यम से विचारों और मान्यताओं के विकास और तत्कालीन भौतिक परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं। हम जान पाते हैं कि

जीवन गहन अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है। एक संघर्ष भिन्न विचारों के बीच और भिन्न भौतिक स्थितियों के बीच जारी रहता है। हम प्रकृति के विरूद्ध संघर्ष करते हैं और उसके सौंदर्य से प्रेरित भी होते हैं। सबसे गूढ़ और विकट संघर्ष शोषकों और पीड़ितों के बीच है।

इस सन्दर्भ में हम वर्तमान दौर की ओर नजर डालें तो निराशा होती है। पढ़े-लिखे विज्ञान पर विश्वास करने वालों की जगह अन्धविश्वासों पर जीवन नष्ट करने वालों ने बढ़त बनाई है। ज्ञान की जगह गर्व से किंवदन्तियों और लोककथाओं को तरजीह मिली है। जीवन में उपभोक्ता उपकरणों के जरिए ही सही युक्तियों और विज्ञान का परिचय लोगों को मिलता रहा है, लेकिन हजारों अतीतजीवी और प्रगति-विरोधी संगठनों ने देश भर में जनविरोधी विचारों का जाल फैलाने में बढ़त हासिल की। संसद में सन्यासियों की उपस्थिति इसका स्पष्ट उदाहरण है। यह अनायास तो नहीं है कि क और ख संप्रदाय के लोग एक दूसरे के बारे में अभद्र टिप्पणियाँ खुलेआम करते देखे जाते हैं। क्या यह सामान्य बात है? अपनी झूठी श्रेष्ठता के लिए वे अप्रासंगिक और असत्य ग्रन्थों का सहारा लेते हैं। भविष्य के बजाय अतीत में निवास करते हुए वे बेहद भद्दे, क्रूर और पिछड़े लगते हैं। इस पर विडम्बना यह है कि वे विज्ञान आधारित आधुनिक उपकरणों का भरपूर उपयोग करते हैं।

पिछड़ेपन के प्रति यह मोह सिर्फ सत्ता पर कब्जा करने की युक्ति है। सेकुलर शब्द से अनापत्ति सिर्फ इसलिए है कि सम्मान और उपज पर कब्जा बना रहे। किसान और मजदूर सिर्फ इनके साधन जुटाने के लिए श्रम करते रहें। उनकी संततियाँ भी इस वर्ग की सेवा में जुटी रहें। ये ऐतिहासिक व्यक्तियों को भी अपने हित में एडजस्ट करने में माहिर हैं। दूसरे के बच्चों को हिंसा में झोंक कर अपने बच्चों को सुरक्षित रखने की नीति अपनाते हैं।

ऐसा भी क्या धर्म जो पहचान के आधार पर भेदभाव करता हो और ऐसा भी क्या ईश्वर जो जनता के बीच फूट डालता हो। हमारे समाज के व्यवहार और भाषा में इतनी हिंसा कहाँ से आती है, यह साफ दिखता है। ●

उत्तराखंड के अपने ही लुटेरे

जयप्रकाश पंवार 'जेपी'

उत्तराखण्ड राज्य गठन के पश्चात कई सरकारें आई-कई गई, व फिर-फिर आती गई। प्रत्येक मुख्यमंत्री ने अपने-अपने मंत्रालयों का बंटवारा किया। बाहरी तौर पर इसे एक लोकतांत्रिक व मुख्यमंत्री का अधिकार क्षेत्र माना गया। अब चाहे मंत्रालयों के गठन का मामला हो, कौन मंत्री बनेगा व उसे कौन-कौन से विभाग दिए जाएंगे उसके चयन में मुख्यमंत्री की कितनी चलती है यह सब पर्दे के पीछे की बातें हैं। उत्तराखण्ड में नारायण दत्त तिवारी जिन्होंने न सिर्फ अपना 5 साल का कार्यकाल पूरा किया बल्कि अभी तक भी यह एक रिकॉर्ड बना हुआ है। यह रिकॉर्ड उत्तराखण्ड का भाग्य बोलो या तस्वीर, पर एक ऐसा निशान बन गया है जो राज्य के माथे से उतर ही नहीं रहा है। तिवारी कार्यकाल का यह एकमात्र सितारा पिछले 20 सालों से चमक रहा है। इस सितारे के इर्द-गिर्द अब के मुख्यमंत्री पहुँच ही नहीं पा रहे हैं।

खैर, मैं बात कर रहा था मुख्यमंत्री के चयन व मुख्यमंत्री के मंत्रालयों की। पहली बात तो यह है कि मुख्यमंत्री का चयन हमेशा से ही पार्टियों के हाईकमान करते रहे हैं। बताया जाता है कि वहाँ बड़ी सौदेबाजी होती रही है। जो जितनी बड़ी थैली देने की स्थिति में है, उसकी संभावना उतनी ही ज्यादा या मजबूरी में जब कोई ना मिले तो हाईकमान भक्त भी भगत बन जाए, कुछ कहा नहीं जा सकता। उत्तराखण्ड में नारायण दत्त तिवारी ही एकमात्र मुख्यमंत्री रहे व उनका व्यक्तित्व हाईकमान पर भी इतना हावी रहा कि हरीश रावत की सालों की मेहनत पर भी तिवारी जी हावी रहे। वह राज्य की कल्पना के विरोधी होने के बावजूद भी मुख्यमंत्री बने। किसी ने चूं तक नहीं की, कर भी नहीं सकते थे। जब तिवारी मुख्यमंत्री बने तो उन्होंने राज्य के लिए ठोस बुनियादी निर्णय लिए। अपने पास मंत्रालयों का भार व फाइलों में उलझे रहने के बजाय उन्होंने मंत्रालयों का खुलकर बंटवारा किया। सूचना, लोक निर्माण और स्वास्थ्य जैसे मंत्रालय भी अपने पास नहीं रखे। सारे भारी-भरकम बजट वाले मंत्रालयों को अपने मंत्रियों को सौंप दिया व फालतू की बाबूगिरी के बजाय प्रशासनिक देख-रेख व योजनाओं के निर्माण व क्रियान्वयन पर ध्यान दिया। औद्योगिक क्षेत्रों का निर्माण किया, औद्योगिक घरानों को राज्य में उद्योग लगाने का माहौल बनाया व शिक्षण संस्थानों की स्थापना की। इसका दूसरा पहलू इस तरह से भी देखा-समझा जा सकता है कि उनकी मंशा किसी विभाग से पैसा कमाने की नहीं थी। न उन्हें इस बात की चिंता थी कि चुनाव के लिए या अपने या अपने परिवार और रिश्तेदारों के लिए विभागों को चूसना है।

अभी हाल ही में नारायण दत्त तिवारी के कार्यकाल में शिक्षा मंत्री रहे नरेंद्र सिंह भंडारी के बारे में यह बात सामने आई कि भंडारी जी के कार्यकाल में रिकॉर्ड 54000 शिक्षकों की नियुक्ति हुई थी। यह कार्य नारायण दत्त तिवारी भी कर सकते थे। इंदिरा हृदयेश तब लोक निर्माण व सूचना मंत्री थी। इसी तरह कई महत्वपूर्ण विभाग तब के अनेक मंत्रियों के पास थे।

नारायण दत्त तिवारी जी के कार्यकाल के बाद भाजपा की सरकार बनीं। भुवन चंद्र खंडूड़ी मुख्यमंत्री बने व रमेश पोखरियाल निशंक जो मुख्यमंत्री के दावेदार थे को

स्वास्थ्य मंत्री बनाया गया। मंत्री बनते ही निशंक ने दो-चार हफ्तों में ही ऐसी बैटिंग की कि लोग मुख्यमंत्री की चर्चा कम, निशंक की चर्चा ज्यादा करने लगे। निशंक ने मृतप्राय: स्वास्थ्य विभाग में जान फूंक दी। खंडूड़ी सरकार ने तिवारी का अनुसरण नहीं किया। एकमात्र बड़े बजट के स्वास्थ्य मंत्रालय को मजबूरी में निशंक को सौंपने के बाद सारे महत्वपूर्ण विभाग अपनी मुट्ठी में रखे। तिवारी के बाद तक जितने भी मुख्यमंत्री बने सब ने भारी-भरकम बजट वाले सारे विभागों पर कुंडली मार दी। चलो और विभागों को छोड़ दें लेकिन पाठक मुझे बताएँ कि स्वतंत्र कैबिनेट स्वास्थ्य मंत्री निशंक के बाद राज्य में कौन बना? अगर मेरी याददाश्त कमजोर हो तो मुझे क्षमा करेंगे। एक ईमानदार मुख्यमंत्री, एक ईमानदार पार्टी व एक ईमानदार सरकार की विशेषता यह होनी चाहिए कि वो मंत्रालयों की जिम्मेदारी योग्य सहयोगियों को दें व गवर्नेंस, प्लानिंग, उसके क्रियान्वयन पर ध्यान देकर राज्य को उसके भविष्य की दिशा प्रदान करें। दुर्भाग्य से उत्तराखण्ड में पहली गलती यहीं से हुई कि जो भी मुख्यमंत्री तिवारी जी के बाद बने, सबने मंत्रालयों पर कुंडली मार दी। वह इसी जोड़-घटाव में व्यस्त रहे कि कहाँ-कहाँ से कितनी-कितनी कथित वसूली करनी है। मुख्यमंत्री के अलावा कभी आपने सुना कि खनन या आबकारी विभाग किसी राज्य या कैबिनेट मंत्री के पास है। क्या यह बातें हमारी शुप्त-गुप्त जनता समझती नहीं है या आंख मूंदकर दिन प्रतिदिन अंधे होकर अपनी बर्बादी के दिन देख ही रही है। भविष्य भी दिख ही रहा है।

कुल मिलाकर पाठक इस पर अवश्य विचार करेंगे कि भ्रष्टाचार का ऐसा नंगा नाच शायद उत्तराखण्ड में ही देखने को मिलेगा। दारू की बोतल में पिछली दो सरकारों से दस, बीस, पचास व सौ रूपए की डंडी मारी जा रही है। खुलेआम जनता को चिढ़ाया जा रहा है कि बेटे पीनी है तो ओवर रेट पर दारू ले और नहीं तो साइड हो जा। क्या यह बात मुख्यमंत्री तक नहीं पहुँचती है। मुख्यमंत्री क्या अंधा बहरा है जो

खुलेआम इस लूट को नहीं देख रहा था या है। मुख्यमंत्री यह नहीं समझ रहा है कि दारू के रेट बढ़ाने पर परिवारों पर ही बोझ बढ़ रहा है। यह कैसी विडंबना है कि राज्य की आर्थिकी का इसके अलावा कोई विकल्प या मॉडल आज तक इन निकम्मी सरकारों के पास इन 20 सालों में नहीं निकला तो राज्य की जनता को साफ समझ लेना चाहिए कि यह पार्टियाँ, यह सरकारें जनता पर बोझ के अलावा कुछ नहीं हैं।

खनन और शराब को राजस्व का एकमात्र विकल्प मानने वाली पार्टियों व सरकारों से अब सारी उम्मीदें खत्म हो चुकी है। कोई ऐसा मुख्यमंत्री राज्य को नहीं मिल पा रहा है जो खुलकर बैटिंग कर सके, जो हिम्मत कर सके। अपने पास मंत्रालयों का कुनबा जोड़ कर रखे, बाकी के सारे मंत्रालय शोपीस बन कर रहें। उससे बढ़िया किसी को मंत्री ही ना बनाया जाए। सारे विधायकों को विभागों का प्रतिनिधि व प्रभारी बनाया जाए। मुख्यमंत्री रात-दिन फाइलों में झुका रहे। कैलकुलेटर लेकर बाबू के साथ बैठे। बजट में गुंजाइश बनाए। अभी तक के तो यही अनुभव हैं उत्तराखण्ड की निकम्मी सरकारों के। राज्य को ऐसे मुख्यमंत्री की जरूरत है जिसका दिमागी संतुलन ठीक-ठाक हो, जो ठोस निर्णय लेने में सक्षम हो, जो राज्य को एक दृष्टि प्रदान करे, जो राज्य की बौद्धिक क्षमताओं का उपयोग करे। युवाओं में एक उम्मीद जगाए व अशक्त निर्बल वर्ग को आशा की किरण प्रदान करे। काश कि ऐसा दिन उत्तराखण्ड में आए, इसी आशा में......

अंततः- करोना की इस महामारी ने उत्तराखंड के गाँव-गाँव तक पाँव पसार लिए हैं। पर्वतीय राज्यों में उत्तराखण्ड पहले पायदान पर है। यहाँ हर दिन ऋषि गंगा जैसी आपदा हो रही हैं। ऑक्सीजन की कमी से कई लोगों को जीवन से हाथ धोना पड़ रहा है। अस्पतालों में जगह नहीं है। दुर्भाग्य से नेतृत्व परिवर्तन भी ऐसे वक्त हुआ जब कोरोना की दूसरी लहर अपने पूरे उफान पर थी। नए मुख्यमंत्री अभी समझने की कोशिश में लगे हैं। दौड़-भाग व उद्घाटन में लगने के बजाय उन्हें अपने ऑफिस में बैठकर समन्वय पर जोर देना चाहिए और अपने किसी तेजतर्रार मंत्री जैसे

तीरथ सिंह रावतः अभी बहुत कुछ साबित करना बाकी है

हरक सिंह रावत एवं सुबोध उनियाल को स्वास्थ्य मंत्रालय सौंप देना चाहिए। इंटरनेट के जमाने में दौड़ भाग में अनावश्यक समय लुटाने के बजाय ठंडे दिमाग से काम लेने की जरूरत है। इस बीच हर दिन कोई न कोई अपना जाना-पहचाना कोविड की भेंट चढ़ रहा है। ईश्वर इस सिलसिले को रोकें जो इस दौर में हमें छोड़ कर चले गए उन्हें पहाड़नामा की ओर से भावभीनी विदाई व श्रद्धांजलि। (9411530755) ●

देहरे में पिकेटिंग-1930

(पृष्ठ 35 का शेष)

अदालत का मानना था कि कृपाराम को जानबूझकर परेशान किया जा रहा है। मामले को गम्भीरता से लेते हुए अदालत ने इस बार सजा को पिछली (अगस्त वाली) सजा से दोगुना कर दिया, यानि छह महीने कठोर कारावास की सजा सुनाई। आनद देव और बेनी प्रसाद, जो 16 वर्ष के थे, उन्हें सिर्फ इतनी रियायत मिली कि उनकी सजा छह माह की बजाय 4 माह की हुई।

जहाँ तक विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की बात है, तो उसके लिए देहरा जिला काँग्रेस कमेटी की वस्त्र व्यापारियों के साथ पहले ही बात हो चुकी थी। पहली मीटिंग 22 अप्रैल को हुई। तय हुआ कि 23 अप्रैल से कोई वस्त्र व्यवसायी विदेशी कपड़ों के लिए ऑर्डर नहीं भेजेगा। यदि विलायत से अब तक न माल चला हो, तो उसको रोक दिया जाए। जो व्यवसायी इस बात को न माने, उसका बहिष्कार किया जाए और उसकी दुकान पर धरना दिया जाए। वस्त्र व्यवसाइयों ने अपनी ओर से सात प्रतिनिधि चुने, जिन्हें काँग्रेस के परामर्श के अनुसार काम करना था।

कहीं-न-कहीं यह वस्त्र व्यापारियों से मिले इस किस्म के सहयोग का परिणाम था कि जहाँ एक ओर सिगरेट, शराब के खिलाफ पिकेटिंग मई-जून में शुरू हो गई थी, विदेशी वस्त्रों के मुद्दे पर लंबे समय तक शांति बनी रही। 18 से 21 सितम्बर के बीच देहरा बाजार में झंडूमल, हर प्रसाद, किशन ब्रदर, प्रेम लाल आदि वस्त्र विक्रेताओं की दुकानों पर पिकेटिंग हुई। इसमें कन्या गुरुकुल के छज्जू राम और उनकी बेटी सरस्वती देवी भी शामिल थीं। पिकेटिंग के दौरान ग्राहकों को दुकानों में जाने से रोका गया। शिकायत मिलने पर पुलिस पहुँची। गिरफ्तारियों हुई और मुकदमे चले। 16 अक्टूबर को सुनाए अपने फैसले में अदालत ने राजदर्शन सिंह को 18 वर्ष का होने के के कारण 3 माह कठोर कैद व 50 रुपये का जुर्माने की सजा सुनाई। छज्जू राम, शिवनाथ शर्मा, गुणानन्द और श्याम लाल को 6 माह कठोर कैद व 50 रुपये को सजा मिली। उस साल श्याम लाल युद्ध समिति के डिक्टेटर भी थे। विदेशी वस्त्रों के खिलाफ अगली पिकेटिंग ऐस्ले हाल में हुई, जो खासी हंगामेदार रहीं, पर वह कहानी फिर कभी........ ●

सल्ट फिर भाजपा के साथ

❑ संजय कोठियाल

भारतीय जनता पार्टी के सल्ट से लगातार दो बार 2012 व 2017 में विधायक रहे सुरेन्द्र सिंह जीना की गत 12 नवम्बर को हुई मौत के बाद सल्ट में गत 17 अप्रैल को उपचुनाव हुआ जिसकी गणना गत 2 मई 2021 को हुई, जिसमें भाजपा ने एक बार फिर से अपना कब्जा बरकरार रखा। इससे पहले 2007 में जीना भिकियासैंण विधानसभा सीट से पहली बार विधानसभा में पहुँचे थे। सल्ट के उपचुनाव में भाजपा-काँग्रेस के बीच ही सीधा मुकाबला था और कोई उम्मीदवार इन दोनों दलों के आसपास भी नहीं पहुँच पाया। उपचुनाव के लिए 17 अप्रैल को मतदान हुआ और 2 मई को मतगणना हुई जिसमें भाजपा के महेश जीना 21,874 वोट लेकर विजयी रहे। उन्होंने काँग्रेस की गंगा पंचोली को 4,697 वोटों के भारी अन्तर से हराया। गंगा को 17,177 वोट मिले।

विधानसभा के 2017 में हुए चुनाव में भाजपा के सुरेन्द्र जीना ने 2,904 वोटों से काँग्रेस की गंगा पंचोली को हराया था। तब सुरेन्द्र को 21,581 वोट तो गंगा को 18,677 वोट मिले थे। इस लिहाज से देखें तो भाजपा को इस बार भी लगभग उतने ही वोट मिले, जितने पिछली बार मिले थे। वहीं काँग्रेस के वोटों की संख्या घट गई। आश्चर्ययजक तौर पर तीसरे स्थान पर 721 वोटों के साथ नोटा रहा। निर्दलीय सुरेन्द्र सिंह को 620, उत्तराखण्ड परिवर्तन पार्टी के जगदीश चन्द्र को 493, एसएसपी के शिव सिंह रावत को 466, उत्तराखण्ड क्रान्ति दल समर्थित पान सिंह रावत को 346 और पीपीआई डेमोक्रेटिक के नंद किशोर को 209 वोट मिले। क्षेत्रीय दलों उक्रान्द और उपपा का उपचुनाव में प्रदर्शन बेहद निराशाजनक रहा। दोनों ही दलों को कुल मिलाकर 839 वोट ही मिले। यह प्रदर्शन बताता है कि जमीनी स्तर पर क्षेत्रीय दलों की स्थिति क्या है?

काँग्रेस की उम्मीदवार गंगा ने अपने समर्थन के लिए मतदाताओं से चैत की भिटौली के तौर पर वोट देने की अपील की, लेकिन लोगों ने गंगा को भिटौली में वोट देने की बजाय, सहानुभूति में दिवंगत सुरेन्द्र सिंह जीना के भाई महेश जीना को अपना समर्थन दिया। त्रिवेन्द्र रावत के स्थान पर तीरथ सिंह ने गत 10 मार्च 2021 को मुख्यमन्त्री पद की शपथ ली थी। इस लिहाज से उन्हें आगामी 9 सितम्बर 2021 तक विधानसभा का सदस्य निर्वाचित होना आवश्यक है। तीरथ के मुख्यमन्त्री बनने के बाद सल्ट विधानसभा सीट पर उपचुनाव की घोषणा हो गई थी, जिसके बाद यह माना जा रहा था कि भाजपा नेतृत्व किसी विधायक से त्यागपत्र न दिलाकर तीरथ को सल्ट से चुनाव मैदान में उतारेगा। इस तरह के कयास लगाने के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इससे राजनीति द्वारा जबरन पैदा किए गढ़वाल-कुमाऊँ के भेद से काफी हद तक छुटकारा मिलता, क्योंकि सल्ट विधानसभा सीट कुमाऊँ मण्डल के अल्मोड़ा जिले में है। साथ ही गढ़वाल लोकसभा सीट का हिस्सा रामनगर विधानसभा सीट भी है, जो कुमाऊँ के नैनीताल जिले का हिस्सा है और तीरथ सिंह गढ़वाल लोकसभा सीट के सांसद हैं।

इन कयासों के विपरीत मुख्यमन्त्री तीरथ सिंह रावत ने सल्ट से उपचुनाव लड़ने में दिलचस्पी नहीं दिखाई और न भाजपा नेतृत्व ने। पर इससे यह तो साबित होता ही है कि हमारे नेता इस तरह के क्षेत्रीय विवादों को खत्म करने में नहीं, बल्कि किसी न किसी बहाने बनाए रखने में ही अपना राजनैतिक हित देखते हैं। इसके बाद भाजपा ने जीना के भाई महेश जीना को अपना उम्मीदवार बना दिया। महेश हालांकि बहुत मजबूत प्रत्याशी नहीं थे, लेकिन भाजपा ने कथित तौर पर सहानुभूति की लहर के सहारे चुनाव लड़ने की रणनीति पर काम किया, जिसमें उसे सफलता भी मिली। पर इतना तय है कि अगर तीरथ भी चुनाव लड़ते तो वे एकतरफा चुनाव जीतते। काँग्रेस किसी भी स्तर पर उन्हें टक्कर नहीं दे पाती।

गत विधानसभा चुनाव में हार चुकी पूर्व ब्लॉक प्रमुख गंगा पंचोली पर काँग्रेस ने एक बार फिर से दाँव खेला। काँग्रेस की ओर से सल्ट के ब्लॉक प्रमुख विक्रम रावत
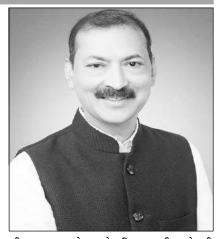
भी मजबूत दावेदार थे। विक्रम की दावेदारी इस कारण भी मजबूत थी कि वह सल्ट के पूर्व विधायक व काँग्रेस के प्रदेश उपाध्यक्ष रणजीत रावत के पुत्र भी हैं और सल्ट उपचुनाव के लिहाज से पूरे विधानसभा क्षेत्र में लगातार सक्रिय थे। काँग्रेस की गुटीय राजनीति में रणजीत रावत इस समय प्रदेश अध्यक्ष प्रीतम सिंह खेमे के हैं और इस खेमे को नेता प्रतिपक्ष डॉ. इंदिरा हृदयेश का समर्थन हासिल है। इन राजनैतिक समीकरणों के आधार पर काँग्रेस से विक्रम रावत का प्रत्याशी बनना एक तरह से पक्का माना जा रहा था।

दूसरी ओर पूर्व मुख्यमन्त्री हरीश रावत ने खुलकर गंगा पंचोली का समर्थन किया। उनका कहना था कि गत विधानसभा चुनाव में गंगा बहुत कम अन्तर से चुनाव हारी हैं तो उन्हें एक मौका और देना चाहिए। गंगा की परेशानी यह थी कि गत विधानसभा चुनाव हारने के बाद वह क्षेत्र में उतनी सक्रिय नहीं थी, जितना उन्हें होना चाहिए था। पर इस सब के बाद भी काँग्रेस नेतृत्व ने विक्रम की बजाय गंगा पंचोली पर विश्वास जताया। गंगा को टिकट मिलने के बाद रणजीत रावत गुट ने खुले तौर पर खुद को चुनाव प्रचार से अलग कर लिया। रणजीत का कहना था कि उन्हें किसी ने भी चुनाव प्रचार के लिए नहीं कहा है तो वह जबरदस्ती प्रचार नहीं करेंगे, ताकि काँग्रेस अगर हारी तो उनके ऊपर भीतरघात का आरोप न लगे।

रणजीत रावत के अलावा काँग्रेस के प्रदेश अध्यक्ष प्रीतम सिंह व दूसरे बड़े नेता प्रचार में लगे रहे, पर वे काँग्रेस को हार से बचा नहीं पाए। ●